के पोषण की शक्ति है। यह ऐश्वर्य मुंझवण नहीं करता; पर उसके मूर्च्छा को उतार फेंकता है। इसीलिए, श्री जिनेश्वर भगवान् का बाह्य सौंदर्य स्तवने योग्य है।

तीर्थंकर–नामकर्म :

भगवान् श्री जिनेश्वर देवों को जो बाह्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वह इन तारक भगवान द्वारा निकाचित तीर्थङ्कर–नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है। भूमि अच्छी हो, बीज अच्छा हो, सिंचाई अच्छी हो, तभी बीज में से अच्छा पौधा पैदा होता है और उस वृक्ष का फल मधुर होता है। इस प्रकार तीर्थंकर–नामकर्म बंधता है, इसी प्रकार निकाचित होता है, और इस प्रकार के कर्म के फलस्वरुप जो प्राप्त होता है, वह उसको तो लाभ करता ही है और उसी के साथ–साथ जगत के समस्त जीवों को लाभ करता है। श्री अरिहन्तादि बीस स्थानकों की उत्कट कोटि की आराधना ही तीर्थंकर–नामकर्म का बीज है। जिसका अन्तःकरण स्व–पर की दया से वासित नहीं हुआ है, ऐसा जीव इन स्थानकों की आराधना नहीं कर सकता। इस कारण यह बीज विवेकहीन और दयाहीन भूमि में तो स्थान पाता ही नहीं! विवेक-सम्पन्न होकर स्व-पर की दया से वासित अंतःकरण वाले जीव चाहे तो बीस स्थानकों की उत्कट और निर्मल आराधना करे और चाहे तो बीस में से एकाध की आराधना करे। पर उस आराधना के योग से वह विवेकी तथा दयालु जीव श्री तीर्थंकर-नामकर्म के दलिया का

तो स्थान पाता ही नहीं। विवेक-संपन्न होकर स्व-पर की दया से वासित अंतःकरण वाले जीव चाहे तो संपूर्ण वीस स्थानकों की उत्कट और निर्मल आराधना करे और चाहे तो वीस में से एकाध की आराधना करे, पर उस आराधना के योग से वह विवेकी तथा दयालु जीव श्री तीर्थंकर-नामकर्म के दलिया का उपार्जन कर सकता* है। श्री तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन के पश्चात् उसकी निकाचना करती पड़ती है; अर्थात् यह तीर्थंकर नाम विपाकोदय से ही निर्जरित हो सके उसी तरह से अत्यंत पुष्ट बनाना पडता है।

* तीर्थन्कर-नाम-कर्म बांधने के २० स्थानक विशेषावश्यकभाष्य में इस प्रकार दिये है:

अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया एएसिं अभिक्खणनाणेवओगे य ॥ १७९ ॥

दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइआरो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ १८० ॥

अप्पुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ १८१ ॥

पुरिमेण पच्छिमेण य एए सव्वेऽवि फासिया ठाणा।
मज्जिमेहिं जीणेहिं एक्कं दो तिण्णि सव्वे वा ॥ १८२ ॥

तं च कहं वेइज्जइ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं,।
वज्झइ तं तु भगवओ तइय भवोसक्कइत्ताणं ॥ १८३ ॥

नियमा मणुयगईए इत्थी पुरिसेयरो य सुहलेसो।
आसेवियबहुलेहिं वीसाए अण्णयरएहिं ॥ १८४ ॥

के पोषण की शक्ति है। यह ऐश्वर्य मुंझवण नहीं करता; पर उसके मूर्च्छा को उतार फेंकता है। इसीलिए, श्री जिनेश्वर भगवान् का बाह्य सौंदर्य स्तवने योग्य है।

तीर्थंकर–नामकर्म :

भगवान् श्री जिनेश्वर देवों को जो बाह्य ऐश्वर्य प्राप्त होत है, वह इन तारक भगवान द्वारा निकाचित तीर्थङ्कर–नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है। भूमि अच्छी हो, बीज अच्छा हो सिंचाई अच्छी हो, तभी बीज में से अच्छा पौधा पैदा होता है और उस वृक्ष का फल मधुर होता है। इस प्रकार तीर्थंकर नामकर्म बंधता है, इसी प्रकार निकाचित होता है, और इ प्रकार के कर्म के फलस्वरूप जो प्राप्त होता है, वह उस तो लाभ करता ही है और उसी के साथ–साथ जगत समस्त जीवों को लाभ करता है। श्री अरिहन्तादि बी स्थानकों की उत्कट कोटि की आराधना ही तीर्थंकर–नामक का बीज है। जिसका अन्तःकरण स्व–पर की दया से वासि नहीं हुआ है, ऐसा जीव इन स्थानकों की आराधना नहीं क सकता। इस कारण यह बीज विवेकहीन और दयाहीन भू में तो स्थान पाता ही नहीं! विवेक-सम्पन्न होकर स्व-पर दया से वासित अंतःकरण वाले जीव चाहे तो बीस स्थानकों उत्कट और निर्मल आराधना करे और चाहे तो बीस में एकाध की आराधना करे। पर उस आराधना के योग से व विवेकी तथा दयालु जीव श्री तीर्थंकर-नामकर्म के दलिया क

तो स्थान पाता ही नहीं। विवेक-संपन्न होकर स्व-पर की दया से वासित अंतःकरण वाले जीव चाहे तो संपूर्ण बीस स्थानकों की उत्कट और निर्मल आराधना करे और चाहे तो बीस में से एकाध की आराधना करे, पर उस आराधना के योग से वह विवेकी तथा दयालु जीव श्री तीर्थंकर-नामकर्म के दलिया का उपार्जन कर सकता* है। श्री तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन के पश्चात् उसकी निकाचना करनी पड़ती है; अर्थात् यह तीर्थंकर नाम विपाकोदय से ही निर्जरित हो सके उसी तरह से अत्यंत पुष्ट बनाना पड़ता है।

---

* तीर्थन्कर-नाम-कर्म बांधने के २० स्थानक विशेषावश्यकभाष्य में इस प्रकार दिये हैं:

अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छल्लया एएसिं अभिक्खणनाणेवओगे य ॥ १७९ ॥

दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइआरो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ १८० ॥

अप्पुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ १८१ ॥

पुरिमेण पच्छिमेण य एए सव्वेऽवि फासिया ठाणा।
मज्झिमेहिं जीणेहिं एक्कं दो तिण्णि सव्वे वा ॥ १८२ ॥

तं च कहं वेइज्जइ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं।
वज्झइ तं तु भगवओ तइय भवोसक्कइत्ताणं ॥ १८३ ॥

नियमा मणुयगईए इत्थी पुरिसेयरो य सुहलेसो।
आसेवियबहुलेहिं वीसाए अण्णयरएहिं ॥ १८४ ॥

होती, तो अन्य आत्माओं की अपेक्षा श्री तीर्थंकर भगवान की आत्मा की प्रभा कई गुणा अधिक प्रकट हुए बिना न रहती। कांच को स्वच्छ, निर्मल, सुशोभित तथा सुन्दर आकार वाला बनाने में जितना परिश्रम करना पड़े, उतना ही श्रम यदि जातिवंत मणि को निर्मल, सुशोभित और सुन्दर आकार वाला बनाने के लिए करें तो निर्मल बनायी हुई यह मणि काँच की अपेक्षा सैकड़ों, हजारों, लाखों गुण मूल्य उपार्जित कर सके। इसी प्रकार श्री तीर्थंकरदेव की आत्मा को ज्यों-ज्यों सामग्री मिलती है, त्यों-त्यों उन आत्माओं में स्थित स्वाभाविक तथा बेजोड़ योग्यता प्रकट हो जाती है। अपने स्वयं के विशिष्ट प्रकार के कर्मों के योग से श्री जिनेश्वरदेवों की आत्माओं को भी संसार में चारों गतियों में *अनंतकाल तक परिभ्रमण करना पड़ता है। पर ज्ञानियों का कथन है कि, इन तारकों की आत्माएँ संसार के परिभ्रमण में उत्तम-उत्तम स्थान प्राप्त करती हैं। पशुयोनि में उत्पन्न होते हैं,तो उत्तम पशु के रूप में और पक्षी के रूप में उत्पन्न होते हैं,तो उत्तम पक्षी के रूप में--ऐसा ही सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

श्री अरिहंत देव तथा अन्य आत्माओं के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में अंतर :

भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की आत्माएँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करती हैं। पर, सम्यग्दर्शन की उनकी प्राप्ति अन्य आत्माओं से विशिष्ट होती है। इन तारक भगवानों की आत्माओं को सम्यग्दर्शन का

---

* गतियाँ चार हैं : (१) तिर्यंच (२) नारकी (३) देव और (४) मनुष्य। देखिए ठाणांग सूत्र।

जो गुण प्राप्त होता है, उसमें उनकी स्वयं की योग्यता ही प्रधान होती है। इन तारकों की आत्माओं को सम्यग्दर्शन के गुण की प्राप्ति में सद्गुरु * का सदुपदेश सामान्य निमित्त बनता है। वह प्रधान कारण नहीं गिना जाता। सद्गुरु का सदुपदेश सामान्य निमित्त होता है और इन तारक भगवानों की योग्यता प्रधान कारण होती है। इसीलिए,इन तारकों का 'स्वयंसम्बुद्ध'** के रूप में स्तवन किया गया है।

इन तारकों की आत्मा में सम्यग्दर्शन का जो गुण प्रकट होता है, वह अन्य आत्माओं की तुलना में श्रेष्ठतर होता है। इन तारकों के सम्यग्दर्शन-की बोधि को(इस बोधि को भगवद् भाव निवर्तक होने के कारण) वरबोधि*** गिना जाता है।

---

* सद्गुरु का परिचय कलिकाल सर्वज्ञ ने योगशास्त्र (प्रकाश २) में इस प्रकार कराया है :

महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥८॥
सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहः
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥९॥
परिग्रहारंभमग्नास्तारयेयुः कथं परान्
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः ॥१०॥

** सयंसंबुद्धाणं। तथाभव्यत्वादिसामग्रीपरिपाकतः प्रथमसंबोधेऽपि स्वयोग्यताप्राधान्यात् त्रैलोक्याधिपत्यकारणाचिन्त्यप्रभावतीर्थकरनाम-कर्मयोगेन अपरोपदेशेन स्वयं आत्मनैव सम्यस्त्वरबोधिप्राप्त्या बुद्ध्या मिथ्यात्वनिद्रापगमसंबोधेन स्वयं संबुद्धा.............. ललितविस्तरा, (सानुवाद) पृष्ट १३० ।

*** वरबोधि की टीका के लिए देखिए ललितविस्तरा।

भगवान श्री जिनेश्वरदेव की आत्मा अपने अंतिम भव से तीसरे भव में अवश्य बोधि प्राप्त करती है। ये तारक अपने अंतिम भव मे, तीसरे भव से पूर्व भी बोधि प्राप्त करते हैं पर आखिर में तीसरे भव में तो: ये तारक अवश्यमेव बोधि प्राप्त करते ही हैं। तीसरे भव से पूर्व, यदि इन तारकों ने बोधि की प्राप्ति की हो तो यह संभव है कि,पुनः मिथ्यात्व का उदय हो जावे पर तीसरे भव में बोधि प्राप्ति के बाद पुनः मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। तीन भव से पूर्व बोधि प्राप्त हुई हो, और कदाचित् मिथ्यात्व का उदय हो गया हो, तो भी तीसरे भव में बोधि प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। भगवान श्री जिनेश्वरदेव की आत्मा के लिए यह बात सुनिश्चित है। पर, अन्य आत्माओं के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। अन्य आत्माएं तो उसी भव में बोधि प्राप्त करें ऐसा भी संभव है। अन्य आत्माओं के अंतिम भव से पूर्व के भव मिथ्यात्व के उदयवाले हो; ऐसा संभव है। अन्य आत्माओं ने पहले बोधि प्राप्त की हो, और बाद में मिथ्यात्व के उदयवाली हुई हो और अंतिम भव तक बोधि की प्राप्ति न हुई हो उनको फिर अंतिम भव में ही बोधि प्राप्त होती है। मुद्दा केवल यह है कि भगवान श्री जिनेश्वरदेव की आत्माओं का अंतिम तीन भव सम्यग्दर्शन के गुण से रहित नहीं होता, यह बात सुनिश्चित है। पर अन्य आत्माओं के लिए ऐसा नियम नहीं है।

सिरे भव से ही ऐश्वर्य की प्राप्ति पर केवलज्ञान प्राप्ति पर परिपूर्ण ऐश्वर्यशालिता :

अपने अंतिम भव से पूर्व के तीसरे भव में अवश्यमेव बोधि को प्राप्त करके, भगवान श्री जिनेश्वरदेव की आत्माएँ, श्री थिंकर-नामकर्म की दलिया उपार्जित करके पुण्यकर्म की निकाचना रती हैं। श्री तीर्थंकर-नामकर्म की निकाचना केवल भगवान श्री रिहंतदेव की आत्माएँ ही कर सकती हैं। पर, ये पुण्य - आत्माएँ ो श्री तीर्थंकर-नामकर्म की निकाचना अपने अंतिम भव से तीसरे व के पूर्व नहीं कर सकती। वरबोधि को प्रथम पा ले यह भी शक्य ; पर श्री तीर्थंकर-नामकर्म की निकाचना तो अंतिम भव से तीसरे व में ही होती है। पुण्यकर्म के निकाचित अन्य प्रकारों से इस थिंकर—नामकर्म-रूप—पुण्यकर्म के प्रकार में यह भी एक विशिष्टता कि, पुण्यकर्म के अन्य प्रकार जबसे निकाचित किये जाते हैं; बसे वह अपना प्रभाव दर्शाने में समर्थ बन नहीं सकता; पर वे कार अपने विपाकोदय* के समय से ही अपने स्वामी को सुख समृद्धि ादि प्राप्त कराने के लिए समर्थ बनता है। जब कि श्री तीर्थंकर-नामकर्म-ूप पुण्यकर्म का प्रकार तो जब से निकाचित किया जाता है, तभी से पना प्रभाव प्रकट किये बिना नहीं रहता। श्री तीर्थंकर-नामकर्म निका-

---

विपाकसूत्र की टीका 'विपाक' शब्द की टीका इस प्रकार की गयी है। विपाक पुण्यपापरूपकर्मफलम्

जाता है और इनका निर्वाण भी कल्याणकारी माना जाता है। सदा दुखों का अनुभव करते हुए, नारक जीव को भी इन कल्याणकों के समय आनन्द होता है। फिर अन्य गति के जीवों के लिए तो पूछना ही क्या? अंतिम भव में इन तारकों की अवस्था या प्रवृत्ति किसी के लिए भी अकल्याणकारी नहीं होती। इन तारकों का जीवन एकान्त कल्याणमय व्यतीत होता है। अंतिम भव प्राप्त करते ही ये तारक, देवों तथा देवों के स्वामी इन्द्र द्वारा सेवित होते हैं। इन तारकों का जब जन्म होता है तब सभी इन्द्र आकर उन्हें मेरु—

चन्द्र-सा, चौथे नरक में मेघाच्छादित चन्द्र-सा, पांचवे नरक में ग्रह तारा सा, छठे नरक में नक्षत्र-तारा-सा और सातवें नरक में तारा-सा- देखिए नवपद बालावबोध

१ जैन साहित्य में च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण को कल्याणक की संज्ञा दी जाती है।

२. जैन-साहित्य में ६४ इन्द्र बताये गये हैं :

प्रथम भवनपति के (१) चमर तथा (२) बलि असुरकुमारेन्द्र हैं द्वितीय भवनपति के (३) धरण तथा (४) भूतानन्द नागकुमारेन्द्र हैं तृतीय भवनपति के (५) वेणुदेव तथा (६) वेणुदारी सुवर्ण कुमारेन्द्र हैं चतुर्थ भवनपति के (७) हरिकांत तथा (८) हरिसह्यत् कुमारेन्द्र हैं पंचम भवनपति के (९) अग्निशिख और (१०) अग्निमाणक अग्निकुमारेन्द्र हैं। षष्ठम भवनपति के (११) पूर्ण और (१२) विशिष्ट द्वीपकुमारेन्द्र हैं। सप्तम भवनपति के (१३) जलकान्त और

मेरु पर ले जाते हैं, वहां इन्द्रादि देव-देवियों उन तारकों की भक्ति करते हैं और अंत में इन्द्र स्वयं उन तारकों को वापस रख जाते हैं। भगवान तीन निर्मल कोटि के ज्ञान से युक्त होते हैं, इससे वे तारक, इन्द्रादि जो सेवा करते हैं उसे जानते हैं, किंतु कुछ भी अभिमान धारण नहीं करते! लेशमात्र भी खुमारी नहीं आती। अंतिम भव में ज्ञानप्रधान जीवन यापन करनेवाले ये तारक एक भी अनुचित प्रवृत्ति में प्रवृत्त ही नहीं होते। यहां केवल उन तारकों के बाह्य ऐश्वर्य की ही बात है इसलिए हम अधिक विस्तृत चर्चा नहीं करेंगे, अन्यथा उन तारकों के अंतिम भव का समस्त जीवन अति सुंदर होता है।

भगवान् के चौंतीस अतिशयः

भगवान श्री जिनेश्वरदेव का ऐश्वर्य तो देखें! जन्म से ही ये भगवान चार अतिशयों से सम्पन्न होते हैं:—

१. इन तारकों की पुण्यदेह अद्भुत रूप तथा सुगन्धमय होती है, आरोग्ययुक्त होती है और पसीने से रहित होती है।

२. इन तारकों का श्वासोच्छ्वास भी कमल की सुगन्ध सा होता है।

तेषां च देहोऽद्भुतरूपगन्धो निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च।
श्वासोऽब्जगन्धो रुधिरामिषं तु, गोक्षीरधाराधवलं ह्यविस्रम्॥
आहार-नीहार विधिस्त्वदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशयाः सहोत्थाः।
—अभिधानचिन्तामणि.

३. इन तारकों के शरीर का रुधिर तथा मांस गौ के दूध के समान श्वेत और दुर्गन्धरहित होता है।

४. इन तारकों की आहार-निहार की विधि चर्मचक्षु से अदृश्य होती है।

बाद में ये तारक भगवान जब केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं तब इन चार अतिशयों में कर्मक्षय के योग से उत्पन्न होनेवाले ११ अतिशय तथा देवकृत १९ अतिशय, इस प्रकार इन ३० अतिशयों को मिलाने से ये ३४ अतिशयों से युक्त होते हैं।

कर्मक्षय से उत्पन्न ११ अतिशय

५. समवसरण योजन प्रमाण भूमि में होता है, पर उस में कोटि-कोटि देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों का सुखपूर्वक समावेश हो जाता है।

६. ये तारक अर्धमागधी-भाषा में प्रवचन देते हैं, पर इनकी वाणी मनुष्यों के लिए, देवों के लिए तथा तिर्यंचों के लिये अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती है।

क्षेत्रे स्थितिर्योजनमात्रकेऽपि, नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटेः ॥५८॥
वाणी नृ-तिर्यक्-सुरलोक-भाषा संवादिनी योजनगामिनी च।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्ठे विडम्बिताऽहर्पतिमण्डलश्रि ॥५९॥
साग्रे च गव्यूतिशतद्वये रुजा वैरेतयो मार्यतिवृष्ट्यवृष्टयः।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भयं स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः ॥६०॥

—अभिधान चिंतामणि

७. इन तारकों के सिर के पीछे ऐसा तेजोमय भामण्डल होता है कि सूर्यमण्डल की शोभा को भी मात कर देता है।

८. ये तारक जहाँ विराजते हैं वहाँ से चारों दिशाओं में पच्चीस-पच्चीस योजन तक तथा ऊपर-नीचे साढे-बारह साढे-बारह योजन तक रोग उत्पन्न नहीं होते हैं।

९. ये तारक जहां होते हैं, वहां वैरभाव नहीं होता है।

१०. धान्य को हानि पहुँचाने वाले कीटाणुओं का उपद्रव नहीं होता है।

११. १२५ योजन तक मारी अर्थात् अकाल और औत्पातिक मरण नहीं होता है।

१२. अतिवृष्टि नहीं होती है।

१३. अनावृष्टि भी नहीं होती है।

१४. दुष्काल नहीं पडता है।

१५. और राष्ट्रोंमें एक दूसरे राष्ट्र को एक दूसरे राष्ट्र से भय उत्पन्न नहीं होता है।

देवकृत १९ अतिशय :

१६. धर्मप्रकाशक चक्र रहता है।

१७. भगवान के दोनों ओर चामर ढुलते रहते हैं।

१८. स्फटिकमय सिंहासन साथ में रहता है।

१९. आकाश में तीन छत्र होते हैं।

२०. रत्नमय ध्वज होता है।

ऐसी आत्माओं को जब पाप का उदय भोगने का अवसर आता है
तब कैसी दशा होती है? स्मरण रखिए, जो कुछ भी अच्
चीजें प्राप्त हुई हैं, वह पुण्य के उदय से प्राप्त हुई हैं
लाभान्तराय हो तो लाभ नहीं होता है, देनेवाले को ही मिलता है
यदि आप अपना मन उदार रखेंगे, आत्माको उदार बनाओगे
तो सुख भी तुम्हारी ओर उदारता से आकृष्ट होगा। देने
आप जितना संकोच करेंगे उतना ही संकोच आपको मिलनेवाले
में भी होगा। यदि ऐसी दशा प्राप्त न करना हो तो दान क
दान कराना और दान करनेवाले की अनुमोदना करना और किसी
लाभ होता हो तो बीच में अन्तराय नहीं करना। धन की ममता ऐ
है कि व्यक्ति अड़ाई कर लेगा पर धर्मार्थ व्यय करना हो त
तुरंत मुँह फेर लेता है। तात्पर्य यह है कि धन जितना प्रिय है
उतना धर्म नहीं है। पर व्यक्ति को परिणाम पर विचार करने
आवश्यकता है। जिस वृद्धा की हम बात कर रहे हैं वह कि
बात में दुःखी थी? ऐसी दयनीय दशा की प्राप्ति का कारण क्या है
इसका कारण पूर्व जन्म में दान न देना और अन्तराय करना है।

एक दिन ऐसा हुआ कि वह वृद्धा जंगल में लकड़ी लेने
गई। पर उसे उतनी लकड़ी नहीं मिली जितनी की उसे आ
[illegible] से काफी हो सकी। उसे भूख प्यास जोर से लग रही थ
[illegible] लकड़ी मिली उतनी ही लकड़ी ले कर वह नगर में [illegible]

र घर आयी। रोजकी अपेक्षा लकड़ी कम थी अतः सेठानी बोली—आज तुम्हें खाना नहीं मिलेगा। खाना चाहती हो तो जितनी लकड़ी कम है उसे भी ले आओ। वृद्धा ने सेठानी से विनती की पर वह टस से मस न हुई। सेठानी ने वृद्धा की वृद्धावस्था, थकावट और धूप का विचार नहीं किया। "वृद्धा की पीड़ा वृद्धा जाने! मुझे क्या मतलब!" ऐसा सेठानी के मन में होगा न!

आप विचार करें कि सेठानी की कृपणता किस दर्जे की थी और वृद्धा के कार्य की कठिनाई किस हद तक थी! पर सेठानी भयंकर परिणाम देनेवाले कर्म को पैदा कर रही थी और वृद्धा अपने कर्म का नाश कर रही थी।

श्रीमंत घर की स्त्री यदि इस भव में इतनी कृपण हो तो अगले भव में दरिद्र कुल में उसका जन्म निश्चित है। यदि धन मिला हो तो धन लाभ को उदारतापूर्वक सार्थक करना चाहिए। 'हाथे ते साथे' उदारता गुण के बिना दान-धर्म नहीं आता। सेठानी में यदि किंचित् दया होती तो वह यह करती कि पहले उसे भोजन देती और फिर ठंडे समय में लकड़ी लाने को भेजती। असली बात तो यह है कि ऐसे वृद्ध स्त्री-पुरुषों की सहायता करके धनी लोगों को उनका आशीर्वाद लेना चाहिए। उन लोगों के पास से काम लेने में, दया का नाश न हो, यह देखना चाहिए। सेठानी ने उस भूखी प्यासी और थकी वृद्धा को पुनः जंगल में लौटा दिया। उस वृद्धा के पास

"धर्म प्राप्ति आदि में पुण्य सहायक बनता है।"

प्रश्न :—क्या पुण्य के लिए धर्म करना चाहिए?

साधु के लिए पुण्य की आकांक्षा करने का निषेध किया ग[illegible]
है। साधुओं का ध्येय तो मात्र कर्म निर्जरा साधना ही होता है।
पर साधु पुण्य के द्वेषी नहीं होते। वे पुण्य का निषेध नहीं करते
हैं। [illegible] यह वृत्ति नहीं होती कि मुझे पुण्य का बन्ध होने ही न पावे।
ऐसा होने पर भी, साधु यह समझता है कि, "कर्म निर्जरा" की
साधक क्रियाएँ शुभ पुण्य की भी साधक बनती हैं। गृहस्थ तो पु[illegible]
[illegible]

च्छा होने के बावजूद अपने पापोदय के कारण अन्य को कर्णप्रिय
नने के बदले कर्णकटु बनता है। पुण्य से द्वेष करने वाले यदि
चार करेंगे तो समझ सकेंगे कि वे उन्मार्ग का जो प्रचार कर रहे हैं
ह भी पूर्व में उपार्जित पुण्य के ही बल से कर रहे हैं। यदि पुण्योदय
होता तो कोई उनकी बात ही नहीं सुनता और जो थोड़ा बहुत
ान-पान उन्हें मिलता हैं; वह भी न मिल पाता।

'पुण्योदय से मूर्ख गौरीशंकर राजमान्य और गाँवधनी बना"

पुण्योदय के प्रभाव से मूर्ख जैसा आदमी जनता में विद्वान
ोना जाता है। और बिल्कुल मूर्खतापूर्ण कार्य करने पर भी लोकादर
ास करता है। गौरीशंकर की गोली की बात आपजानते हैं? उसकी
ोली पुण्य से भरी हुई थी, तो उसकी नेपाला (जमालगोटा) की
ोली भी उसको मान-पान और-ऋद्धि प्रदायक सिद्ध हुई।

गौरी शंकर नामका एक मूर्ख ब्राह्मण था। वह निर्धन था
और उसके पास कोई व्यवसाय नहीं था। उसने वैद्य का व्यवसाय
करने का विचार किया। कहीं उसने पढ़ लिया था कि सब रोगों का
मूल पेट का मल है। पेट में मल बढ जाय तो रोग होता है। पेट
सफा तो सब सफा। और पेट बिगडा तो सब बिगडा। अतः उसने
जमाल गोटे की गोली बनायी।

जमालगोटे की गोली क्या कर सकती है, यह तो आप जानते
हैं। वह पेट का मल निकाल बाहर करती है! और यदि इसकी

किया है। आपको भी विचार करना है कि आपका पुण्य कि प्रकार के धर्म से बंधा हुआ है!

कर्म से युद्ध करने वाला अवश्य विजयी होता है:

प्रश्न: जैसा पुण्य होगा क्या वैसा ही विचार आयेगा?

जिसको पुण्य से मिली हुई सामग्री का सदुपयोग करने की क करते समय ऐसे ही निर्बल विचार आते हैं उसका पुण्य संभवतः प्रकार का पापानुबन्धी होता है। नहीं तो, किसी समय आ बलवान तो किसी समय कर्म बलवान। कर्म चाहे जैसा भी बल हो पर हमें तो उसके सामने जंग करने के लिये हमेशा उ रहना चाहिये। अशुभ कर्म को परास्त करते समय यदि वह जोर हो तो हम थक भी जाय और यह भी हो सकता है कि हार जाय। परंतु आखिर में तो आत्मा की ही जय होती है। क्यों कर्म के सामने जो संघर्ष किया है भविष्य में उसका अच्छा फल आये बिना रहेगा ही नहीं। आप कर्म की जड़ को उखाड़ने के लिये प्रयत्नशील बनें और कर्म आपके सामने कुछ भी न करे यह कैसे हो सकता है! कर्म भी अपना जोर आजमायेगा ही। पर यदि आप उसमें कटिबद्ध रहें तो आखिर में आप ही सफल होंगे। कारण कि कर्म नाशवान है और आप शाश्वत हैं; कर्म अनित्य है और आप नित्य हैं। बात इतनी ही है, कि आप कितनी भी पछाड़ खायें,

गे हुई, सार कार्य पर असना प्रयत्न चालू रखी। यदि ऐसा हो तो उस मकड़ी के समान आप भी अपनी मुक्ति की भावना को सफल कर सकते हैं। यह मकड़ी जितनी बार निष्फल हुई, गिरी, पर उसने अपनी इच्छा को पूर्ण करने की कोशिश जारी रखी तभी तो वह अपना जाल बना सकी। पर इतनी बात तो स्पष्ट है कि जब भारी प्रकार का दृढ़ पापानुबन्धी पुण्य हो तो उसे स्वयं उपदेश भी क्यों न देवे फिर भी उसकी विषय आसक्ति और कषायाधीनता कम होती ही नहीं। सबका पापानुबन्धी पुण्य ऐसा नहीं होता। प्रयत्न से उसमें परिवर्तन कर सकते हैं, ऐसा भी होता है। हम नहीं जानते कि हमारा पुण्य किस प्रकार का है? इसलिये, हमें तो भगवान द्वारा दर्शित मार्ग का अनुसरण करने का प्रयत्न ही करना चाहिये।

प्रत्येक कार्य पाँच कारणों के योग से बनता है :

पुण्य की बिल्कुल बिना सहायता यदि किसी भी जीव ने धर्म प्राप्ति की हो, आराधना की हो और मुक्ति प्राप्त की हो, ऐसा कभी नहीं होता, न हुआ और न कभी होगा। हर कार्य (१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) प्रारब्ध और (५) पुरुषार्थ इन पाँच कारणों से बनता है। इन पाँचों में से कभी किसी एक की प्रधानता होती है तो कभी किसी दूसरे की। पर योग तो पाँच ही कारणों का होना। प्रधानता किसी-किसी कारण विशेष की होती है।

उपकार की भावनावाली वनती है। अतः अवसर मिलते ही वह उस प्रकार की प्रवृत्ति वाले हुए विना नहीं रहते। ये तारक बुद्ध वोधित नहीं होते, किंतु स्वयंबुद्ध होते हैं, और अन्य तीर्थंकरों के तीर्थ से तिरने वाले नहीं होते। वे जगत तारक तीर्थ की स्थापना करके और अनेकों को तार कर और अनेकों को तैरने का मार्ग दिखलाकर तिरनेवाले होते हैं। इन तारकों के उपकार से अनेकों सिद्ध प्राप्त करते हैं। पर ये स्वयं किसी के उपकार से सिद्धि प्राप्त नहीं करते। ऐसी योग्यता इन तारकों में अनादि काल से होती है। इसी कारण ये तारक अपने अंतिम भव से तीसरे भव में श्री तीर्थंकर नामकर्म की निकाचना करने में समर्थ होते हैं। इसी योग के ही फलस्वरूप वे तीर्थ के स्थापक बनते हैं। सर्वज्ञ होनेवाली सभी आत्माओं को इतना वाह्य ऐश्वर्य उपलब्ध नहीं होता। ईश्वर अवश्य सर्वज्ञ होता है, पर सभी सर्वज्ञ ईश्वर नहीं होते। ऐश्वर्य से युक्त सर्वज्ञ तो भगवान श्री जिनेश्वर देव ही होते हैं। इसी कारण 'सर्वज्ञ' विशेषण से स्तवना करने के वाद टीकाकार परमर्षि ने श्री जिन का ईश्वर विशेषण से स्तवन किया है।

"ईश्वर है और नहीं भी है।"

प्रश्न: इस काल में ऐसा कोई ईश्वर है या नहीं?

इस काल में भी ऐसे ईश्वर हैं। यह वात भी सत्य है। महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से तो इस काल में भी ऐश्वर्य युक्त सर्वज्ञ विद्यमान हैं।

और यदि अपने इस भरत क्षेत्र की अपेक्षा से कहे तो इस काल में ऐश्वर्य युक्त सर्वज्ञ विद्यमान नहीं हैं। इस काल मे यहाँ तो ऐश्वर्य युक्त सर्वज्ञ नहीं है। और इसीके साथ साथ अतीर्थंकर सर्वज्ञ भी नहीं है। तीर्थंकर न हो ऐसे समय भी सर्वज्ञ तो हो ही सकते हैं। पर वर्तमान में तो अपने यहाँ सर्वज्ञ है ही नहीं।

'असि* – मसी**' और कृषि का जहाँ व्यवहार हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं। ऐसी १५ कर्मभूमियाँ हैं। ये कर्मभूमियाँ ही धर्मभूमियाँ बन सकती हैं। कर्मभूमि से बाहर की भूमि धर्मभूमि नहीं बन सकती। पन्द्रह कर्मभूमियाँ कौन सी हैं? पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह—ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

इन पन्द्रह कर्मभूमियों में पाँच भरत और पाँच ऐरवत की भूमियाँ ऐसी हैं जहाँ दिन-प्रतिदिन शुभ (शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श) की हानि हुआ करती है; और ऐसा भी काल आता है जब दिन-प्रतिदिन शुभ (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) की वृद्धि हुआ करती है। जिस काल में शब्द आदि पाँच की दिन-प्रतिदिन हानि हुआ करती है, उस काल को अवसर्पिणी कहते हैं; और जिस काल में इन पाँचों की अभिवृद्धि हुआ करती है उसे उत्सर्पिणी कहते हैं।

उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल दोनों काल का प्रमाण

---

* शस्त्र ** दवात-कलम

[illegible] [illegible] में [illegible] का अवकाश नहीं हो सकता। पानी ठण्डा क्यों? अग्नि उष्ण क्यों? इस प्रकार के प्रश्न पूछे नहीं जाते। क्योंकि [illegible] ऐसा स्वभाव है। आत्मा सकल कर्मों के योग से रहित, ऐसी सिद्धावस्था प्राप्त कर सकती है। और जो कोई आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त करती है वह आत्मा किसी भी काल में, किसी भी संयोग में, कर्म के योग वाली पुनः होती ही नहीं। अब कोई पूछे कि ऐसे स्वभाव वाली आत्मा कर्म से लिप्त ही क्यों हुई? सकल कर्म के नाश से जो आत्मा की अवस्था प्रकट होती है, वही आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। व[ह] स्वाभाविक अवस्था पहले कभी थी ही नहीं और उत्पन्न हुई, ऐ[सी] बात नहीं है। बात केवल इतनी होती है कि अवस्था प्रकट मा[त्र] ही होती है, तो फिर ऐसी अवस्था वाली आत्मा कर्म से लिप्त क[्यों] हुई? हमें इस समाधान पर आना पड़ेगा कि आत्मा पहले कि[सी] काल में कर्म रहित ही थी और पीछे से कर्म सहित बनी हो ऐसा नहीं है। आत्मा तो अनादि काल से कर्म सहित ही है। प्र[श्न] है कि मिट्टी और सोना एकाकार कैसे बना? जब मिट्टी से सोने [को] पृथक् किया जाता है, तब निश्चित होता है कि सोना दूसरी च[ीज़] है और मिट्टी दूसरी चीज़। पर इस सोने और मिट्टी का यो[ग] कैसे हुआ? कहना पड़ेगा कि यह तो योग ही था। जैसे बी[ज] के बिना आम का वृक्ष संभव नहीं है और आम के वृक्ष के बि[ना] आम का बीज संभव नहीं है। तो फिर आम का वृक्ष हुआ कैसे

इसका उत्तर है कि बीज और वृक्ष दोनों अनादि हैं। कौन पहले और कौन पीछे यह नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार काल सिद्ध और स्वभाव सिद्ध वस्तुओं के संबन्ध में यह प्रश्न नहीं उठता कि यह कैसे हुआ? अतः एक उत्सर्पिणी काल में और एक अवसर्पिणी काल में २४-२४ तीर्थपति भगवन्त ही होते हैं। इस व्यवस्था को किसी ने भी निर्मित नहीं किया है कि जिससे इसके संबन्ध में प्रश्न उठाया जा सके। जो बनता है, ज्ञानी तो उसे ही दर्शाते हैं, यदि चौबीस के बदले पच्चीस होते तो वे पच्चीस कहते और असंख्यात होते तो असंख्यात कहते। तब आप पूछते पच्चीस क्यों या असंख्यात क्यों? पर बात तो केवल इतनी ही है कि चौबीस तीर्थंकर होते हैं। इसलिये चौबीस ही कहे गये हैं। आपसे पूछें कि दिन के चौबीस घंटे क्यों हैं? तो आप क्या उत्तर देंगे? संभव है कि आप कहें कि दिन में चौबीस घंटे की साक्षी घड़ी देती है। यहाँ पूछा जा सकता है कि दिन में चौबीस घंटे होते हैं, इसी कारण चौबीस घंटे का द्योतन करने वाली घड़ी बनाई गई, या चौबीस घंटे का धोतन करने वाली घड़ी थी इस कारण दिन में चौबीस घंटे हुए। यह तो खुद निश्चय करो। घड़ी यदि पहले की ही है तो वह २२, २३, २५, या २६ घंटे वाली क्यों नहीं हुई? २४ घंटे की ही क्यों हुई? क्या घड़ी ने ही दिन को २४ घंटे का बनाया? इसका उत्तर नकारात्मक है। घड़ी तो मात्र इतना प्रकट करती है कि दिन का कालमान २४ घंटे का है। ठीक

इसी प्रकार अनन्त ज्ञानियों ने कहा है कि दस क्षेत्रों में हर अवसर्पिणी और हर उत्सर्पिणी में अरिहन्त परमात्मा तो २४ ही होते हैं। जिस प्रकार कि २४ घंटे में जैसे घड़ी प्रमाण बन सकती है उसी प्रकार अरिहंत परमात्मा २४ ही होते हैं। इस बात में प्रमाण ज्योतिष-शास्त्र से हो सकता है। दस कोटा-कोटि सागरोपम प्रमाण उत्सर्पिणी काल में तथा दस कोटा-कोटि सागरोपम प्रमाण अवसर्पिणी काल में श्री भरत आदि दस क्षेत्रों में ऐसे उच्च ग्रहों का योग २४ बार ही आता है कि जो उच्च ग्रहों का योग श्री अरिहन्त परमात्मा का जन्म-काल हो सके। कोई पूछे कि इसका प्रमाण क्या है? तो दूसरा उत्तर यह है कि जो होता है वह निश्चित होता है। इसलिये उसके ऊपर से अनुमान किया जा सकता है, और अनुमान स्वयं एक प्रमाण है।

चौंतीस अतिशय वाली वाणी के पैंतीस गुणवाली और देवेन्द्र तथा नरेंद्र से सेवित आत्माएँ अल्प संख्या में ही होती हैं। यह बात तो स्वाभाविक है कि ज्यों ज्यों पद उच्च होगा त्यों त्यों उस पद को सुशोभित करने वाली आत्माओं की संख्या कम होगी। इसका अनुभव तो आप स्वयं कर सकते हैं। पर एक सामान्य युक्ति भी परमात्मा की चौबीस संख्या सिद्ध कर सकती है। आप परमात्मा शब्द लिखें। और उसे अक्षर न मानकर अंक के रूप में गिनें तो २४ निकलता है। * 'प' का पाँच; 'र' का दो, 'मा' का

*गुजराती लिपि के अनुसार उपरोक्त संख्या का योग '२४' दिखाया गया है

साढे चार, 'त्' (आधा है) का आठ और अंत में 'मा' का साढ़े चार—इस प्रकार इन सबका योग (५+२+४॥+८+४॥) २४ होता है। इस प्रकार 'परमात्मा' शब्द जिसमें आत्मा को परम विशेषण लगाया गया है, वह भी २४ की संख्या का संकेत देता है। तथ्य तो यह है कि ऐसी बात में यह क्यों यह प्रश्न पूछने का अवसर ही नहीं है।

अनन्त रूप में भगवान की स्तुति :

प्रत्येक भरत क्षेत्र में और प्रत्येक ऐरवत क्षेत्र में हर उत्सर्पिणी काल में और हर अवसर्पिणी काल में 'ईश्वर' (तीर्थंकर) रूप सर्वज्ञ भगवन्त तो चौवीस ही होते हैं। परंतु कुल ईश्वर कितने? अब तक अनन्त काल चक्र अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणियाँ और अनन्त अवसर्पिणियाँ बीत चुकी हैं। वर्तमान में अवसर्पिणी काल चालू है, और इसके बाद भी अनन्त उत्सर्पिणियाँ और अवसर्पिणियाँ आने वाली हैं। काल का न आरंभ है और न अंत है। काल चक्र भ्रमण करता रहा है, कर रहा है और भविष्य में भी करता रहेगा। अनन्त उत्सर्पिणियाँ और अवसर्पिणियाँ हो गई हैं और अनन्त होने वाली हैं। तो हर काल चक्रार्द्ध में २४-२४ श्री जिनेश्वर देवों की गणना करने पर कुल कितने जिनेश्वर देव हुए और कितने होंगे? पाँच भरत क्षेत्र और पाँच ऐरवत क्षेत्र में हर काल चक्रार्द्ध में २४-२४ की गणना करने पर संख्या २४० होती है। अवसर्पिणी में

के जीवों को लोकालोक के स्वरूप का भान कराने वाला है।
ईश्वर स्रष्टा नहीं है, द्रष्टा ही है ; बनाने वाला नहीं, बताने वा
ही है।

'बालकों के हित के लिये नजर रखना आवश्यक'

'ईश्वर' शब्द 'ईश' धातु से बना है। 'ईश'
ऐश्वर्य का सूचक है। 'ईश्वर' शब्द संसार के सर्जन को
नहीं सूचित करता है। 'ओ ईश्वर तुं एक छे, सर्ज्यो तें सं
ऐसी कविता बचपन में सिखाई जाने का कितना अधिक असर
है! इस समय हर व्यक्ति को इस बात की ओर ध्यान देना चा
कि अपने-अपने बच्चों और अपने-अपने आश्रितों में खोटी सम
न बसने पाये। आज की कितनी ही पाठ पुस्तकों में अनेक
बातें पढ़ाई जाती हैं। आप यदि इन पाठ पुस्तकों को रोक
अथवा उनको सुधार सकें तो बहुत अच्छा ; पर यदि आप
न हो तो अपने बच्चों को गलत शिक्षा से बचा तो सकते ही हैं

ही है। अनेक पाप-कर्मों के हिस्सेदार आप भी बनते हैं। वे
प की ओर झुकते हैं या सदाचार की ओर इस तरफ यदि सतर्क
हें तो ही आप पाप कर्मों के हिस्से से बच सकते हैं। आप उनके
प कर्मों के हिस्सेदार बनें इससे उनका तो पाप कर्म घोटगा नहीं—
न्हें तो पाप कर्म भोगना ही पड़ेगा; पर उनके पाप आचरण के
ोग से आपको भी जो पाप कर्म लगते हैं—इस बात को ध्यान में रख
भी बच सकते हैं। इसीलिये तो मरते हुए सभी को वोसिरा देने
ा विधान है। आप जीते जी न छोड़ सकें हों तो भी अंत में
मरने के पहले तो वोसिरा देना ही चाहिये। नहीं तो पीछे रहे हुए
आरंभ समारंभ के पाप से आत्मा लिप्त हुआ करती है। यदि आरंभ
समारम्भ को वोसिराय न हो तो न करने पर एवं न जानने पर भी
आत्मा को पाप लगता है।

भगवान का 'अनन्त' विशेषण क्यों?

हम तो यह मानते हैं कि जो कोई आत्मा प्रयत्न करती है
और अपने प्रयत्न के बल से चारों घाति कर्मों को क्षीण कर डालती
है, वह आत्मा सर्वज्ञ बन सकती है, और सर्वज्ञ बनने के बाद अपने
शेष चार अघाति कर्मों का नाश करके वह सिद्ध बन सकती है। इस
प्रकार सिद्ध बनने वाली आत्माओं में से थोड़ी आत्माएँ ऐसी होती हैं
कि वे जगत में अद्वितीय ऐश्वर्य को प्राप्तकर, इस ऐश्वर्य के कारणभूत
पुण्यकर्म के योग से तीर्थ की स्थापना करने के बाद सिद्ध गति को

प्राप्त करने का मार्ग स्वतन्त्र रूप से दर्शाने वाली तो ये ही आत्मा
होती हैं। और इसलिये ही इन आत्माओं का स्तवन सिद्ध आत्मा
से पहले किया जाता हैं।

इन तारकों के उपकार की सीमा नहीं है। इन तार
द्वारा प्रदर्शित मोक्ष मार्ग जिसे रुचता है वह इन तारकों के
अनन्य भक्ति वाला बन जाता है। कोई भी कार्य चाहे छोटा हो
या बड़ा उनके प्रारम्भ में ऐसी आत्माएँ मंगल के रूप में
अरिहन्त परमात्माओं का ही स्तवन तथा वंदन करती हैं। भगवती
सूत्र के टीकाकार परमर्षि ने भी यही किया है। प्रारम्भ में मंगलाच.
करते हुए उन्होंने १५ विशेषणों से श्री अरिहन्त परमात्मा का स्तव
किया है। ये तारक सर्वज्ञ होते हैं और ईश्वर होते हैं। इन
विशेषणों के प्रयोग के पश्चात् टीकाकार महर्षि ने तीसरा विशेष
, अनन्त ' दिया है।

तीसरे विशेषण के संबंध में कोई प्रश्न करे कि तीर्थं
परमात्मा अनन्त कैसे कहे जायँ? क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म का उ
आदि और अनन्त है। तीर्थंकर तो सिद्ध होंगे ही और इस
दशा में तीर्थंकर पन का भी अंत होता है,यह तो मानना ही पड़े
तो फिर इनको अनन्त क्यों कहा जाता है? यह भी समझने
बात है।

श्री तीर्थंकरदेव अवश्यमेव सिद्ध होते हैं। इसलि

कों के अरिहन्त पद का अंत होता है। पर यह तो सच्ची और भी सच्ची बात है। ऐसा होते हुए भी यहाँ ग्रंथकार ने 'अनन्त' शेषण का प्रयोग किया है। तो वह श्री जिनेश्वर देवों की किस त रहितता को स्पष्ट करता है? इस बात पर हमें विचार करना हिये। यह विशेषण ऐसा नहीं है कि मात्र तीर्थंकर देवों को सूचित रे और केवलियों को सूचित न करे। भगवान श्री अरिहन्त देव वल ज्ञानी तो हैं ही। अतः, केवल ज्ञानी बनने से आत्मा की जो स्वभाव दशा प्रकट होती है, उस स्वभाव दशा को लक्ष्य में रखकर श्री अरिहन्त देव की स्तुति की जा सकती है। चार घाती कर्मों के क्षय से आत्मा की जो स्वाभाविक दशा प्रकट होती है तथा आत्मा का जो ऐश्वर्य प्रकट होता है वह अंत रहित ही होता है अर्थात् वह गुण अनन्तकाल तक पुनः आवृत्त नहीं होता। इन गुणों में न तो कमी आती है और न इन गुणों का कभी अंत आता है।

'सर्वज्ञ' विशेषण का प्रयोग करके ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न अनन्त ज्ञान गुण को उद्देश्य में रखकर यह सूचना की गई है। पर यहाँ प्रधानता अंतरायकर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने वाले गुण की है। अंतराय कर्म के ५ प्रकार हैं:—

१. दानांतराय २. लाभांतराय ३. भोगांतराय ४. उपभोगांतराय ५. वीर्यांतराय।

प्रश्न : ये तारक बहुत अंशों में तो संगरहित बने हैं हैं न?

यह बात सत्य है। पर यदि ऐसी बात कहें तो सामने वाला धृष्टता से ऐसा भी कहे कि 'निगोद में जीव बहु से संगो से रहित होते हैं।' ऐसे को भी कह सकते हैं कि निगोद के जीव बहुत से संगो से रहित होते हैं, तथापि इन निगोद के जीवों ने उन संगों का आत्मपुरुषार्थ द्वारा त्याग नहीं किया है। अपितु इनकी कर्मजन्य अवस्था ऐसी है कि इनको बहुतसा संग नहीं होता पर ये तारक तो ज्ञान और पुरुषार्थ से ही बहुत से संगों के तजने वाले होते हैं। परंतु अपने को यह कहना चाहिए कि भगवान बहुत अंश में संग रहित हैं ऐसा इस विशेषण का तात्पर्य नहीं है। किन्तु 'भगवान संग का मूल कारण राग और द्वेष है, उससे सर्वथा रहित है। इसलिए ही भगवान की असंग रूपसे स्तवना की गई है और वही अर्थ टीकाकार को 'असंग' विशेषण से निवक्षित है।

"रागादि के संग से रहित देव ही तार सकते हैं।"

रागादि के संग से जो सर्वथा रहित बन जाता है उन्हें शरीर का और चार अघाति कर्मोंका संग बहुत समय तक नहीं रहता। रागादि के संगसे सर्वथा रहित बनने वाला उसी भव में पूर्णकामी बनता है। वीतराग और सर्वज्ञ बनी हुई आत्मा

ही वास्तविक रीति से संगरहित आत्माएं है। संगरहित को ईश्वर माना जाये या परमात्मा के रूप में पूजा जाये तो फिर वह तारेंगे किस प्रकार? स्वयं तरे विना कोई भी स्वतंत्र रूप से तारने वाला नहीं हो सकता है। संग सहित आत्माएँ भी तारने वाली वन सकती हैं। लेकिन कब? जव कि उन्हें खटकता हो संग रहित वनने की उसमें भावना प्रगट हो गई हो? भगवान के मार्ग का स्वीकार किया हो और संग रहित वने हुए परमात्मा का वताये हुए मार्ग को कहने वाला हो तब ही कई लोग ऐसे देवों को भी मानते हैं, जो रागी होते हैं। राग और द्वेष ही तो संसार भ्रमण कराने वाले हैं। वीतराग देवमात्र ही. तारने वाले हैं। एक स्थान पर ठीक ही कहा गया है :-

स्त्री संगः काममाचष्टे, द्वेषमायुधसंग्रहः।
जपमालाऽसर्वज्ञत्वं, अशौचं च कमण्डलुः॥

स्त्री का संग करने वाला देव तो काम का संगी है। यह उसके स्त्रीसंग से कल्पना की जा सकती है। किसी प्रकार के शस्त्र वाला देव हो तो यह देव द्वेषी है। ऐसी कल्पना उसके अस्त्र-शस्त्र के संग होती है। जपमाला जिनके संग है, ऐसा देव हो तो वह सर्वज्ञ नहीं, अज्ञानी है। यह कल्पना उसकी जपमाला से की जा सकती है। क्योंकि अपने जपकी गणना

"श्री वीतराग के प्रति श्रद्धा मात्र से ६६ लाख योनियों में परिभ्रमण रुक जाता है।"

जिन आत्माओं को यह श्रद्धा हो जाये कि परमात्मा तो वीतराग अर्थात् असंग ही हो सकते हैं और ऐसे परमात्मा के बताए मार्ग पर चलने वाले गुरु तो निर्ग्रन्थ मात्र ही हो सकते हैं, उन आत्माओं के लिए इन परमात्मा द्वारा असंग बनने के उपाय रूप बताया हुआ धर्म ही एक मात्र धर्म हो सकता है। इनके अतिरिक्त न और कोई तारक देव हैं न गुरु हैं और न धर्म है। ऐसी श्रद्धा वाला मनुष्य या तिर्यंच वैमानिक देवगति से नीचे अन्य कोई गति का आयु बांधता ही नहीं। श्री वीतराग की अविराधित श्रद्धा सहित जो मरे वह कम से कम वैमानिक देव तो होता ही है। श्री वीतराग परमात्मा के प्रति श्रद्धा मात्र से जीव नरकगति में अथवा तिर्यंचगति में नहीं जाता। वह इन गतियों को केवल उसी स्थिति में प्राप्त करता है जब कि श्रद्धालु बनने से पूर्व ही आयुष्य कर्म का बंध कर लिया हो या वह अपनी श्रद्धा छोड़ बैठे। यदि श्रद्धा टिकी रहे और संसार परिभ्रमण करना ही हो तो जीव या तो देवगति में जाता है या मनुष्यगति में जाता है, पर तिर्यंच या नरकगति तो वह पाता ही नहीं। यदि राग और द्वेष से रहित ऐसे केवल सच्ची श्रद्धा मात्र हो जाये तो इतना बड़ा लाभ प्राप्त होता है।

संयम स्वीकार किये बिना योनि-भ्रमण का सर्वथा निवा-
। नहीं होता यह ठीक है, पर जिसे मात्र श्री वीतराग देव की
च्ची श्रद्धा हो जाये उसे ६६ लाख योनियों का परिभ्रमण तो
: ही जाता है। उसे मात्र १८ लाख योनियों में भ्रमण करना
जाता है। जीवयोनि ८४ लाख है। उसमें मात्र १८ लाख
नियों में परिभ्रमण रह जाता है। इस प्रकार इस जीव के
रभ्रमण का क्षेत्र चौथाई से भी कम हो जाता है। जिन तारकों
प्रति श्रद्धा मात्र से ऐसा भारी लाभ हो तो फिर उन तारकों
ारा कथित मार्ग के अनुरूप आचरण करने वालों के लाभ का
ना ही क्या ? श्री वीतराग के प्रति सच्ची श्रद्धा, श्री वीतराग
बताये मार्ग के अनुसार आचरण की प्राप्ति कराये बिना
ीं रहती। इसलिये यदि श्री वीतराग के प्रति सच्ची श्रद्धा
नी रहे, विशुद्ध बनी रहे, स्थिर रहे तो ऐसा जीव मात्र
-८ भवों में वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेता है। धर्म
र्ग में, धर्म श्रद्धा में, स्थिरीकरण यह भी एक सद्‌गुण हैं।
। श्रद्धा के साथ-साथ यदि श्री वीतराग कथित उच्च चरित्र
प्त हो जाये, स्वीकार किया जाये, आत्माको स्पर्श हो जाये
उसी भव में जीव मुक्ति प्राप्त कर सके। सच्ची श्रद्धा
िक संयम स्वीकार करना ही मुक्ति प्राप्ति की सच्ची मुक्ति
और यही एक मात्र युक्ति है। मुक्ति की प्राप्ति तो दूर रहे
किन देवगति में पाँच अनुत्तर विमानों में भी कोई वीतराग
र के प्रति सच्ची श्रद्धा के बिना नहीं जा सकता। जिस समय

जीव में श्री वीतराग के प्रति सच्ची श्रद्धा प्रकट होती है, और स्पर्शी हो जाती है, उसी समय उस जीव के लिये अमर्यादित संसार मर्यादित बन जाता है। अधिक से अधिक कुछ न्यून अर्ध पुद्गल परावर्त इतने काल तक ही उनका संसार भ्रमण टिक सकता है।

"श्री वीतराग की सेवा से लाभ कैसे मिले?"

कोई आपसे पूछे, तर्क करे कि राग और द्वेष से रहित ऐसा जो आपका वीतराग देव है, वह आपका या मेरा भला किस प्रकार कर सकता है? तो फिर आप क्या कहेंगे?

यह बात जरा समझ लेने की है। जो वीतराग होगा वह भक्ति से न तो प्रसन्न होगा और न तो आशातना से अप्रसन्न होगा। तो फिर ऐसा देव भला किस प्रकार कर सकता है? भक्ति से प्रसन्न होने वाला देव भक्त के विघ्नों को हरेगा, और उनके शत्रुओं को नीचा दिखायेगा। पर जो असंग देव सेवा से प्रसन्न नहीं होता और अशातना से अप्रसन्न नहीं होता, वह देव भक्त का भला अथवा भक्त के शत्रु की हानि किस प्रकार करेगा?

जैन कुल में पैदा हुये भी जैन धर्म का सच्चा ज्ञान न होने के कारण ऐसा ही कहते हैं। वीतराग जो हमारे देव हैं वे न तो अपना भला कर सकते हैं और न तो वे दुश्मन की क्षति

वा सकते हैं। तो फिर प्रश्न है कि ऐसे देव की उपासना से
म क्या ? हम उसे भगवान कैसे मानें ?

इसका स्पष्टीकरण यह है कि श्री वीतराग परमात्मा के
त सच्ची श्रद्धा पैदा होने से शत्रुता की भावना ही नष्ट हो
ती है। शत्रु को हानि पहुंचाने की तो तत्र वृत्ति ही नहीं
कती। किसी दूसरे की हानि होकर मेरा भला हो, यह
नोवृति ही नहीं रहती और हमारे में यह ज्ञान पैदा होता है
क जीव स्वयं का भला तो वीतराग बनने में ही है ऐसा लगता
। वीतराग बनने के लिये वीतराग आदर्श से सहायक रूप
ोते हैं। ज्यों–ज्यों तारक वीतराग की भक्ति के आदमी का
चत्त अनुरक्त होता है त्यों–त्यों व्यक्ति में वीतराग बनने की
ावना तीव्रतर होती जाती है और इस कारण श्री वीतराग
णीत मार्ग के अनुसार आचरण करने का उत्साह बढ़ता ही
ाता है। श्री वीतराग देव की भक्ति ऐसा अनुपम फल देने
वाली है। सुख–दुःखका सर्जक ईश्वर नहीं है, पर अपने–अपने
मन वचन काया के योगों का प्रवर्तन ही सुख–दुख का सर्जक
है। मन, वचन, काया के योग का प्रवर्तन जिस प्रकार होता हैं,
वैसा ही परिणाम आता है। श्री वीतराग देव की श्रद्धापूर्वक
भक्ति करने में मन, वचन, काया का प्रवर्तन ऐसा है कि इससे
दुःख छूटे बिना नहीं रहता और सुख आये बिना नहीं रहता।
वीतराग देव तो न रीझते हैं, न खीझते हैं। पर अपनी आत्मा
उनमें जितनी तल्लीन बनती है, उतना ही व्यक्ति को स्वयं

"शांति आत्मा में [illegible] है।"

राग-द्वेष से मुक्त बनना ही सच्ची शांति प्राप्त करने का सच्चा उपाय है। राग-द्वेष में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह आत्मा को शांति दे सके। आप जगत की किसी वस्तु पर विचार करें। जिसे आप अपनी आवश्यकता समझते हैं उनके लिये सोचकर देखें कि उसमें से किसी भी वस्तु में सच्ची शांति देने का सामर्थ्य नहीं है। क्या भोग शांति-दायक है कि भोग की इच्छा शमन करने से शांति मिलती है। भोजन शांति देता है कि भोजन के खाने से भोजन की आवश्यकता शांत होने से शांति मिलती है? अर्थात् भूख शांत होने के कारण भूख की

ीड़ा टली। धन का लोभ शांतिदायक है कि, धन का लाभ ोते हुए भी धन की इच्छा शमन करने से शाँति मिलती है? ााप स्वयं अपने अनुभव को जांचकर देखें। आपको भी समझ ें आ जायेगा कि शांति तो आत्मा में स्थिर है और आत्मा यों-ज्यों राग-द्वेष से मुक्त होती जायेगी और दुन्यावी ाशाओं और इच्छाओं का त्याग करती जायेगी त्यों-त्यों शांति ा अनुभव होता जायेगा।

आपको अपनी हर छोटी-बड़ी इच्छाओं की पूर्ति होने के ारण क्षणिक शांति का अनुभव होता है, किन्तु एक इच्छा ांत होने के पहले ही दूसरी अनेक इच्छाएं जोर करने गती हैं। इसलिये शांति टिक नहीं पाती। इससे यह सूचित ोता है कि यदि सांसारिक सुख का राग व द्वेष न होगा, हाँ ही सच्ची शांति का अनुभव हो सकता है।

योग वाशिष्ठ का कथन

'योग वाशिष्ठ' नामक हिन्दू-धर्म का एक ग्रन्थ है। उसमें ी रामचन्द्र के मुख से ये शब्द बोलाये गये हैं :-

"नाऽहंरामो न मे वांछा, विषयेषु न च मे मनः।
शान्तिमाधातुमिच्छामि, स्वात्मनीव जिनो यथा॥

यहां श्री रामचन्द्रजी ने कहा हैं-"राम मेरा नाम भले ी हो, पर मैं 'राम' अथवा क्रीड़ा में मस्त रहने वाला नहीं

"विषयों की विष से भी अधिक भयंकरता है"

विष की लालसा से भी विषय लालसा भयंकर है। विष के भक्षण करने की लालसा में प्राण हरने की शक्ति नहीं है पर विषय की तो लालसा में भाव प्राण हरने की ताकत है। विषय सुख की लालसा आत्मा को मलिन बनाती, और मलिन बनी आत्मा मलिन अर्थात अशुभ कर्मों का उपार्जन करती है। विष के भक्षण से अधिक से अधिक व्यक्ति का प्राण निकल जाता है, पर जब विषय मारता है तो उसकी मार कितने ही भवों तक चलती रहती है। इसीलिए उपकारी महापुरुषों ने विषयों को विष से अधिक भयंकर रुप में वर्णित किया है। विष शब्द में 'य' लगा देने से विषय बनता है। आप जानते हैं कि, 'य' के स्थान में 'ज' भी बोला जाता है। जैसे यश के स्थान में 'जश' भी बोला जाता है। इस प्रकार यह 'विषय' विषज (विष ही विषज गुजराती में प्रयोग) हो जाता है 'विषय' यह ऐसा विष है कि आदमी को पीड़ा-पीड़ा कर मारता है और बार बार मारता है। इस जगत में हम सब अनादि काल से विद्यमान हैं। अब तक हमारे अंनत मरण हो चुके हैं एक एक जीवन में बार-बार भाव मरण हुआ, यह बात अलग है। और अनंत द्रव्य मरण हो चुके हैं। इसका कारण क्या था? इसका कारण विषय - रस मात्र था। पांचों इन्द्रियों के शब्द, रुप, रस, गन्ध, स्पर्श इन पांचों विषयों की

ोलुपता ने ही हमें संसार में इतना परिभ्रमण कराया है। अब
ी करा रहा है और जब तक हम उसका त्याग नहीं करेंगे इसी
कार भव-भ्रमण कराता ही रहेगा। विषय सुखोंकी लालसा
ापको कैसी सताती है ? आप ही कहें, विषय सुखकी लालसा
ं आदमी कितना धन खर्च करता है। विषय सुखके लिए
ापने स्वयं ने ही अपने जीवनमें कितना धन व्यय किया है ?
हुत अधिक ? अब कहें कि "वह धन व्यय उत्साह पूर्वक किया या
उत्साह बिना ? जितना धन आपने विषय सुख के लिए खर्च
किया क्या उतना ही धन व्यय आपने आत्मसुख के लिए भी
किया है ? उत्तर होगा "नहीं" और यदि आत्म सुखके लिए भी
कुछ व्यय किया भी होगा फिर भी वह विषय सुखके लिये किये
हुए व्यय की तुलना में नगण्य है। नगण्य ही है यह तो जाने दो
पर क्या आपने नगण्य धन भी उत्साहपूर्वक व्यय किया है !
विषय सुख के लिये तो आपने दोनों हाथों से उड़ाया है, पर
आत्म सुख के लिए दो पैसा व्यय करने में भी बहत्तर बार
विचार किया है। कारण यह है कि विषय सुखमें आपको जो
आकर्षण है वह आत्म सुखमें नहीं।

"लकड़ के लड्डू"

संसार में विषय सुख की लालसा का साम्राज्य बड़ी
प्रबलता से बढ़ रहा है। इसमें विषमता का पार नहीं है। फिर

"विषयों की विष से भी अधिक भयंकरता है"

विष की लालसा से भी विषय लालसा भयंकर है। विष के भक्षण करने की लालसा में प्राण हरने की शक्ति नहीं है पर विषय की तो लालसा में भाव प्राण हरने की ताकत है। विषय सुख की लालसा आत्मा को मलिन बनाती, और मलिन बनी आत्मा मलिन अर्थात अशुभ कर्मों का उपार्जन करती है। विष के भक्षण से अधिक से अधिक व्यक्ति का प्राण निकल जाता है, पर जब विषय मारता है तो उसकी मार कितने ही भवों तक चलती रहती है। इसीलिए उपकारी महापुरुषों ने विषयों को विष से अधिक भयंकर रूप में वर्णित किया है। विष शब्द में 'य' लगा देने से विषय बनता है। आप जानते हैं कि, 'य' के स्थान में 'ज' भी बोला जाता है। जैसे यश के स्थान में 'जश' भी बोला जाता है। इस प्रकार यह 'विषय' विषज (विष ही विषज गुजराती में प्रयोग) हो जाता है 'विषय' यह ऐसा विष है कि आदमी को पीड़ा-पीड़ा कर मारता है और बार बार मारता है। इस जगत में हम सब अनादि काल से विद्यमान हैं। अब तक हमारे अनंत मरण हो चुके हैं एक एक जीवन में बार-बार भाव मरण हुआ, यह बात अलग है। और अनंत द्रव्य मरण हो चुके हैं। इसका कारण क्या था? इसका कारण विषय - रस मात्र था। पाँचों [illegible]न्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन पाँचों विषयों की

लोलुपता ने ही हमें संसार में इतना परिभ्रमण कराया है। अब भी करा रहा है और जब तक हम उसका त्याग नहीं करेंगे इसी प्रकार भव-भ्रमण कराता ही रहेगा। विषय सुखोंकी लालसा आपको कैसी सताती है? आप ही कहें, विषय सुखकी लालसा में आदमी कितना धन खर्च करता है। विषय सुखके लिए आपने स्वयं ने ही अपने जीवनमें कितना धन व्यय किया है? बहुत अधिक? अब कहें कि "वह धन व्यय उत्साह पूर्वक किया या उत्साह बिना? जितना धन आपने विषय सुख के लिए खर्च किया क्या उतना ही धन व्यय आपने आत्मसुख के लिए भी किया है? उत्तर होगा "नहीं" और यदि आत्म सुखके लिए भी कुछ व्यय किया भी होगा फिर भी वह विषय सुखके लिये किये हुए व्यय की तुलना में नगण्य है। नगण्य ही है यह तो जाने दो पर क्या आपने नगण्य धन भी उत्साहपूर्वक व्यय किया है! विषय सुख के लिये तो आपने दोनों हाथों से उड़ाया है, पर आत्म सुख के लिए दो पैसा व्यय करने में भी बहत्तर बार विचार किया है। कारण यह है कि विषय सुखमें आपको जो आकर्षण है वह आत्म सुखमें नहीं।

"लकड़े के लड्डू"

संसार में विषय सुख की लालसा का साम्राज्य बड़ी प्रबलता से बढ़ रहा है। इसमें विषमता का पार नहीं है। फिर

भी इस विषय सुख की लगन ऐसी है कि उसमें दुःख भी सुख से पर्याप्त किये जाते हैं, अथवा तो उसके दुःखों में भी सुख आभास होता है। ऐसा नहीं है कि विषय सुखकी विषमता अनुभव आपको न हुआ हो। किन्तु उसकी याद आसक्ति सभी विषमताओं की ओर से इन विषमताओं को बेपरवाह बनाती है।

दुनिया में कहावत है कि "परण्यो पीड़ाए मरे अने कुंवा फोड़े मरे" ★ विवाहित को जंजाल मारे और अविवाहित उसे विवाह की तमन्ना होतो वह मारे। अविवाहित व्यक्ति विवाहित जीवन के सुखकी कल्पना करके अपने पर तरस खाता है और विवाहित सोचता है कि थोड़ी सी मजा और उसके लिये कितनी बड़ी सजा ?

यह तो ऐसी दशा है कि लक्कड़ के लड्डू खाये सो भी पछताया और न खाये सो भी पछताया, कहा जाता है कि एक धूर्तने आटे के बजाय लकड़ी के बुरादे का लड्डू बनाया। वह धूर्त उसे काफी मँहगा बेचना चाहता था अतः उसने ऐसा रं दिया कि दूर से आँख उसकी ओर आकृष्ट हो और बहुत अच्छी सुगन्ध उसमें मिलाई। जहाँ आँख और नाक का आकर्षण हुआ वहाँ मन भला खिंचे बिना कैसे रहे। विषयों का रसिया मन [illegible] तुरंत उस ओर आकर्षित हो ही जाता है।

★ गुजराती कहावत

ं लकड़ीके बुरादे का लड्डू लेकर आम बाजार बेचने बैठा। : आता उस लड्डू को देखता, उसके रूप और गन्ध की ओर ।कर्षित होकर उसे लेने को मन करता और दाम पूछता। तं एक लड्डू का मूल्य ५०० रुपया बताता। कीमत सुनकर ोगों का और आकर्षण होता। मूर्ख लोग सोचते—'यह बेचने ाला इस लड्डू का इतना अधिक मूल्य बताता है अतः अवश्य समें कोई [illegible] अजब चीज डाल रखी है।

[illegible] पर जिसकी ताकत इतना पैसा व्यय करने की नहीं है वह क्या करे ? बिचारा निराश होकर आगे चला जाता। लड्डू की सुगन्ध दूर तक आती रहती और मन उस लड्डू में लिप्त रहता। गांव में जहां गरीब होते हैं वहीं अमीर भी होते हैं। अतः उस मूर्ख धूर्त को ५००–५०० रुपये देकर भी लड्डू खरीदने वाले मिल ही गये लडडूबिक जाने के बाद धूर्त तुरन्त वहां से चलता बना क्योंकि परिणाम तो वह भली प्रकार जानता ही था।

जिन लोगोंने लड्डू खरीदा था उसे लेकर घर में पहुंचे और लडडू तोड़कर मुंह में डाला। इतनी कीमती चीज दूसरे को खाने के लिए कैसे देते ? इन्द्रिय सुख के गुलामों को इन्द्रियों का आनंद देने वाली चीज पर झपाटा मारते देर क्या लगे ? पहले दूसरे को देने की उदारता की बात तो भाग्यसे ही आती है। ज्योंही बुरादे का लडडू मुंह में डाला, थू थू करने लगे। पर

यह बात कहने की कहां थी। मनमें खीज उठती पर मुँहसे आवाज न निकलती क्योंकि दूसरा सुनकर तो उन्हें मूर्ख ही कहेगा। ५०० रुपये गये मुँहका स्वाद बिगड़ा यह बात कहकर बताने योग्य तो थी नहीं यहां आप स्थितिका विचार करें। जो लड्डू नहीं खरीद सका वह भी पछताता रहा और दुःखका अनुभव करता रहा और खरीदकर जो ले गया वह भी पछताता रहा। इन लड्डूओं में अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति तो थी पर उनमें तत्व कुछ नहीं था। इसी प्रकार विवाहित भी पछताते हैं। पछतावा तो तभी नहीं होगा जब कि विवाह की लालसा ही छोड़ दे।

"सेव्य की सेवा व्यक्ति को सेव्य समान बना देती है"

सभी सांसारिक सुख अथवा विषय सुख इसी प्रकार के ही हैं। ये शान्ति देने वाले नहीं हैं। सच्ची शान्ति तो वीतराग से प्राप्त होती है, वीतराग की उपासना से मिलती है। वीतराग भाव प्राप्त करने से मिलती है। इसके लिए सेवा करने योग्य तो वही है जो कि स्वयं वीतराग हो। वीतराग के आदर्शों को हृदय में धारण करके वैराग्य प्राप्त करने वाले के लिए सुख की सीमा नहीं है। चिन्तामणि रत्न काम-कुम्भ और कल्पवृक्ष देवाधिष्ठित होते हैं। जड़ होने पर भी वे देवाधिष्ठित होने के [illegible] जो कोई उनकी विधिपूर्वक उपासना करके याचना करता

है उसकी सांसारिक मनोवांच्छना पूरी हो जाती है। इसी प्रकार श्री वीतराग स्वयं संग रहित हैं। पर इनके गुणों में अर्थात् इन तारक के गुणों की स्तवना में या इन तारक भगवान के गुणों का आश्रयी बनकर इन तारक भगवान की उपासना में अतुल फल देने की शक्ति है। चिन्तामणि आदि रत्नों की बड़ी भारी सेवा की जाय तो भी वह उपासक को अपने समान बना सकने में असमर्थ हैं। अन्य की मनोवांच्छना पूरी करने की वे शक्ति नहीं दे सकती, पर वीतराग की उपासना तो व्यक्ति को वीतराग ही बना देती है। उनकी उपासना से हम उन जैसे ही बन सकते हैं। जो देव भक्ति से रीझे और अशातना से खीजे वह तो हमारे सम्मुख रीझने और खीझने का आदर्श उपस्थित करते हैं। लालसा से ऐसे देवकी सेवा करना भक्ति नहीं है। यह तो एक सौदा है। निष्काम सेवा ही सच्ची भक्ति है। भक्ति के लिए व्यक्ति को निष्काम बनना अनिवार्य है। ऐसे भक्त के भगवान भी निष्काम ही हो सकते हैं। यदि भगवान निष्काम ही हैं तब भक्ति से रीझने का प्रश्न ही नहीं है।

रागी और द्वेषी देव की भक्ति तारती नहीं है, डुबाती है। सेवा का फल यह है कि सेवक सेव्य जैसा बने। रागी द्वेषी देव की सेवा का फल यह होगा कि, सेवक भी रागी-द्वेषी बन जायेगा। पर अपने को तो राग-द्वेष से मुक्त बनना है। कारण कि राग द्वेषो में सुख नहीं दुःख ही है। इसलिए अपने को वीतराग की उपासना ही करनी चाहिए।

"संग का रंग"

भगवान असंग हैं इसीलिए वह भक्ति के अंग हैं। श्री जिन की भक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिये है। श्री वीतराग की सेवा से व्यक्ति वीतराग बनता है। इसलिए उसे मुक्ति मिल सकती है। राग दुर्गति दायक है जब कि सच्चा त्याग सद्गति और पाँचवीं गति (मुक्ति) प्राप्त कराने वाला है, राग दुर्गति के लिए रास्ता बना देता है जब कि सच्चा त्याग संसार की आग को बुझा कर मुक्ति का मार्ग खोल देता है। यह संपूर्ण जगत संगी है। संग का रंग है। संग में मानने वाला है। संग... सहयोगी है। युद्ध और जंग भी संग का अंग (कारण) है। संग छूटे तो अनंग भावना, विषय वासना टूटे और अभंग रंग झूटे और कर्मों के आधीन की हुई अपनी शक्तियों को लूटे ही लूटे और न खूटे, ऐसे अनंत आनन्द को पाकर पापनगर का परिहार कर मुक्तिपुरी को भेंटें, "शिव शय्या में भेटें"।

संग के रंग के ही प्रताप से आत्मा का गुण आवरित है। संग के रंग ने ही जीवनको तरंगमय बना रखा है। जन्म-मरण के प्रवाह का वेग संग के रंग के आधीन है। भवरूप जंगल में जलन संग के रंग की ही है। संग के रंग में भंग पड़ते ही मग्न रहने वाला पागल बन जाता है। बात ऐसी है कि संग का रंग ही व्यक्ति को पागल बना देता है। जब तक व्यक्ति को यह भान नहीं होता कि, संग का रंग छोड़ने योग्य है। व्यक्ति

ीतराग का संग नहीं कर सकता। राग का जो संग है वह तो ंग का संग है। इस संग में ही असंग की इच्छा है। इसलिए ;स स्थिति में श्री वीतराग का संग नहीं हो सकता। संग टके विना भला असंग श्री वीतराग क्यों कर गले लग सकते हैं ?

"वीतराग के राग से होने वाला परिणाम"

कुछ लोग कहते हैं-'एक ओर तो आप यह कहते हैं कि राग का संग भयंकर है और दूसरी ओर आप ही वीतराग पर राग करने की बात कहते हैं। अर्थात् श्री वीतराग के प्रति राग का संग करने को कहते हैं तो क्या यह दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं'

उनसे कहना है कि "कौन सा राग ऐसा परिणाम लाता है? राग का अर्थ क्या है? किसने कहा कि मनमें अमुक का राग है तो आप उसका क्या अर्थ करेंगे? जिसके प्रति राग है उससे मिलन की इच्छा है, उसके साथ रहने की इच्छा है उसमें लीन बन जानेकी इच्छा है और उससे कभी विरह न हो ऐसी इच्छा है।" यही आप समझेंगे न? ठीक ही है। अब आप विचार करें कि, आपको अनेकों के प्रति राग होने से आपके अन्तर में उनके प्रति ऐसा ही भाव है न? बस, अब समझ लो कि यदि श्री वीतराग के प्रति राग रखा जाये तो क्या फल होगा? श्री

वीतराग के प्रति राग आपके अन्तर में कैसे भाव उत्पन्न करेगा?
उन्हींको देखने की इच्छा हो, बारबार उनकी याद आती रहे,
बारबार उनकी सेवा करने की इच्छा होगी। उनका वियोग
आपको अच्छा न लगेगा। मन सदा उन्हींमें लगा रहेगा! कोई
उनकी अच्छी बात करेगा तो भली लगेगी कोई उनके विरुद्ध
बोलेगा तब वह कान को अप्रिय लगेगी और मनको बेचैन बना
जायेगी। तब इस प्रिय पात्र की समृद्धि करने की मनमें ईच्छा
होगी। यदि कोई उनको सहाय करता हो तो उसका उपकार
मानने की ईच्छा होगी और उसके चरण पर नत मस्तक होने
का विचार होगा। ऐसे ही विचार होंगे न? श्री वीतराग के प्रति
राग हो तो ऐसा ही भाव होना चाहिए। अब कहिए ऐसे
परिणाम से आत्मा को लाभ होगा या हानि होगी? राग
का संग छोड़ने की जो बात की जाती है, वह किस लिए?
राग से आत्मा में हैरानी परेशानी होती है इसलिए ही।
आत्मा को दुःख से मुक्त बनाकर सुखी अवस्था प्राप्त करने
के लिए ही राग का संग छोड़ने की बात कही जाती है।
उस अवस्था को प्राप्त करने में श्री वीतराग का राग
सहायक बनता है। इसीलिए ही "राग का संग भयंकर है।"
ऐसा कहने वाले उपकारी महापुरुष भी राग के संग को
छोड़ने के उपाय के रूप में असंग अथवा वीतराग के प्रति
राग उत्पन्न करने की बात ही कहते हैं।

के जो साधन हैं, उनके प्रति भी राग होता है तब ऐसा राग प्रशस्त कहा जाता है। यह प्रशस्त क्यों ? इसलिए कि यह मोक्ष सुख की सिद्धि में सहायक होता है। प्रशस्त रागद्वेष – वीतराग बनने में अन्तराय भूत नहीं होता। राग द्वेष को प्रशस्त बनाने का अर्थ यह हुआ कि इसी राग द्वेप से इन रागद्वेष के जड़ का नाश करना। योग साधक दशा में प्रशस्त में रागद्वेप आवश्यक है। तत्वत्रयी और रत्नत्रयी का एवं उसके साधनों का राग वीतराग दशा को प्राप्त करने के लिये जो कर्मक्षय करना पडता है, उस कर्मक्षय में सहायक बनता है। यह राग मुक्ति सुख का लक्ष्य होने से ही प्रशस्तपन को प्राप्त करता है। विपय सुख के हित से किया गया किसी भी प्रकार का राग–द्वेप वास्तविक रीति से प्रशस्तपन को प्राप्त नहीं कर सकता। विपय सुख के कारण से कदाचित् कोई धर्म का राग और अधर्म के प्रति द्वेप करे तो यह राग और द्वेप भी प्रशस्तपने की कोटि में नहीं आ सकता और द्वेप को यदि प्रशस्त बनाना हो तो सबसे पहला आवश्यक कार्य यह है कि विषय सुख की अभिलाषा दूर करें और उससे मुक्त बनें।

संत समागमी की तरह प्रशस्त राग–द्वेष फलदायी
बनते हैं"

ह दृष्टिसे किसी भी व्यक्ति का संग नहीं करना चाहिए। पर
त्संग अवश्य करना चाहिए। कारण कि सत्संग सबसे पहला
ाम तो यह करता है कि व्यक्ति को बुरी संगत से बचाता है।
वल बुरी संगत से ही दूर नहीं करता है उनको समझाकर
मेशा ऐसी बुरी संगत से दूर ही रहने की प्रेरणा देता है।
च्छी संगत धीरे-धीरे ऐसी स्थिति ला देती है कि व्यक्ति बुरी
गत का सर्वथा त्याग कर देता है और उस व्यक्ति को संत भी
ना देता है। सत्संग का प्रभाव ही ऐसा है। ठीक उसी प्रकार
शस्त राग-द्वेष भी सर्व प्रथम अप्रशस्त राग-द्वेष की ओर
फरत पैदा करता है, फिर उन अप्रशस्त राग-द्वेष को आत्मा
ं दूर करने के लिए उत्साहित करता है, और जब उस आत्मा
ं यह ताकत पैदा हो जाती है कि बुरे कर्मों के उदय में भी वह
शस्त राग-द्वेष टिका सकता है तब तो वह अप्रशस्त राग-द्वेष
ा स्वामी ही बन जाता है। फिर तो राग द्वेष की क्षय की
वृत्ति जोरदार बन जाती है, और अंत में राग-द्वेष क्षीण हो
ाते हैं। अप्रशस्त राग द्वेष रूपी मल को दूर करने के लिए
शस्त राग द्वेष रूपी रेचन लेने की आवश्यकता है। रेचन

क्या करता है ? मल को तो बाहर निकाल ही देता है, और मल के साथ यह रेचन भी स्वयं बाहर निकल जाता है। एरंड (दीवेल) आदि पीने से यह पेट में जाकर मल के साथ मिल जाता है। कठिन मल को ढीला वनाता है और मल को वाहर निकालने में सहायता करता है। मल निकालने के वाद वह स्वयं भी वाहर निकल जाता है।

प्रशस्त राग द्‌वेष भी ठीक एरंड के जैसा ही कार्य करता है। इसलिए इसे प्रशस्त कहा जाता है जहां-जहां भी राग-द्‌वेष से होने वाली हानि का वर्णन होता है। उसकी वुराई का उल्लेख होता है एवं राग-द्वेष के त्याग का उपदेश है वहां वहां सर्वत्र समझ लेना कि यह सब अप्रशस्त राग-द्वेष से सम्वधित ही है। प्रशस्त राग-द्‌वेष अप्रशस्त राग-द्‌वेष को निकाल कर स्वतः भी निकल जाता है। इस प्रशस्त राग द्‌वेष को निकालने के लिए स्वतंत्र पुरूषार्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है, लेकिन उन प्रशस्त राग-द्‌वेष की सहायता से ही आत्मा राग-द्‌वेष से सर्वथा मुक्त वन सकने के लिए जोरदार प्रयत्न कर सकती है। प्रशस्त राग-द्‌वेष के योग से ही आत्मा तत्वत्रयी और रत्नत्रयी में लीन हो जाती है, और जव आध्यात्म में आगे

बढ़ते-बढ़ते राग-द्वेष का सर्वथा क्षय हो जाने पर वह आत्मा रत्नत्रयी स्वरूप बन जाती है।

"कर्म का नाश करना हो तो मन को परमात्मा के साथ प्रीति युक्त करना"

सांसारिक वस्तुओं का संग अप्रशस्त है। इन अप्रशस्त संग को दूर करने के लिए प्रशस्त भावनाओं का प्रयत्न करना चाहिए। प्रशस्त के संग के अभाव में आत्मा अप्रशस्त का ही संग ग्रहण करती है। फिर अप्रशस्त राग अपना स्थान जमाता है और दृढ़ हो जाता है। सांसारिक सुख के लिए सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की जो अभिलाषाएँ हैं वह सब भगवान के आराधन मार्ग में विघ्न उपस्थित करें तब अप्रशस्त है। प्रशस्त संग समस्त सांसारिक पीडाओं को दफना कर मुक्ति रूपी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कराता है। अप्रशस्त का संग मुक्ति के अनंत सुख से आत्मा को दूर करके दुःखमय जीवन बनाकर बरबाद कर देता है। सांसारिक संग तो अप्रशस्त राग-द्वेष हो तब ही भला लगता है। इस संसार में वैर, कलह, युध्द आदि को बढ़ाने वाले रागी या द्वेषी ही होते हैं। वही संसार

में संतरण करनेवाले हैं। प्रीति की रीति में दुनिया समझ नहीं पाती। इसीलिए यह पौद्गलिक-पुदगलवालों की प्रीति में ही आनन्द मनाती है और अपने स्वयं को दुर्गति में ले जाती है। पुदगलों के रंग के विषय में अप्रीति होनी चाहिए और परमात्मा के प्रति प्रीति होनी चाहिए। जितनी भी प्रीति करना चाहो करो लेकिन प्रीति परमात्मा के प्रति हो या उन तारक भगवानों की आज्ञा के अनुसार आराधना में रत गुरुओं के प्रति उन तारक भगवानों द्वारा कथित धर्म के प्रति हो करो यदि हमें बुरी दशा का अनुभव न करना हो तो हमारे लिए सच्ची प्रीति का स्थान अमान ज्ञानदान के सम्पर्क परमात्मा ही हैं। उनके प्रति जितनी प्रीति पैदा होगी पुदगलों के प्रति उतनी ही प्रीति कम होती जायगी। पुद्गल की बाजी में राजी बनकर अपनी आत्मा को भाजी के मोल तुलवाने वाले, परमात्मा की प्रीति से भागने वाले हैं। केवल प्रभु कथित पावन ज्ञान विचारों के चौगानों में ताजी-ताजी भावनाएं बनाकर प्रभु की प्रीति में और उनकी आज्ञाओं में राजी (अनुरक्त) बनें तभी ही पूरी बाजी हाथ में आ सकती है।

"प्रभु प्रीति परायण"

संसार की आपत्ति में भी इन तारकों की आज्ञाओं के दृढ़ पालन के लिए तत्पर रहते हैं। परमात्मा के प्रेम में आत्मा को ओत-प्रोत बनाने वाला व्यक्ति यदि कोई नाराज तो होता ही है। इसमें नयी बात भी क्या है ? पर भगवान का भक्त ऐसे प्रसंग पर नाराज होकर बैठा नहीं रहता। लेकिन आलस्य और कायरता को दूर कर वह पूरी शक्ति से उसका प्रतिकार भी करता है। श्री जिनराज की आराधना में अपना प्राण, तन-मन धन सब कुछ भी ऐसे कार्यों में निछावर कर देता है। वह किसी भी अन्य की सहायता की अपेक्षा भी नहीं रखता। वह तो शूर-सुभट के समान आगे बढ़ता है और रास्ते के कांटे जैसे विघ्न को उठाकर फेंक देता है। ऐसी अप्रतिम प्रीति जब तक आत्मा में नहीं जगती है तब तक मोह भागता नहीं और राग द्वेष जाते नहीं। अतः मन को पुद्गल की प्रीति का त्याग कराकर परमात्मा की प्रीति में लगायें और इस प्रकार कांटे को निकाल फेंके।

"प्रीति पुदगल तणी छोड़ो
प्रभु-ना-ध्यान मां जोड़ो
अखतरो तो करो थोड़ो
निकलशे कर्मनो खोड़ो"

कर्मरूपी कांटे को निकालना हो तो यह सब करना आवश्यक है। परमात्मा के प्रति की हुई थोडी भी प्रीति बडी शांति देने में समर्थ है।

"निराशंस भाव से भक्ति करें"

जगत में कोई ऐसी सिद्धि नहीं है, कि जो श्री वीतराग परमात्मा की भक्ति से प्राप्त न हो। श्री वितराग परमात्मा की भक्ति द्वारा समस्त सांसरिक और लौकिक सिद्धियां सुलभ हो जाती हैं। प्रीतिपूर्वक होनेवाली श्री वीतराग की भक्ति बाह्य और अभ्यान्तर ऋद्धियों की प्राप्ति का कारण है। क्योंकि यह जिस प्रकार कर्म निर्जरा में साधिका बनती है उसी प्रकार शुभ पुण्य की भी साधिका है। बाह्य सिद्धियों के लिए किया हुआ पुरुषार्थ सफल तभी होता है जब कि लाभन्तराय कर्म का उदय विघ्न न डाले और शुभ प्रकार का भोग फल अर्थात पुण्य कर्म उपार्जित किया हुआ हो। ऐसा होने पर भी इस बात का अवश्य ध्यान रहे कि श्री वीतराग की भक्ति विषय सुख की अभिलाषा से नहीं करनी है।

लिक आत्मिक सुख की अथवा मोक्ष सुख की अभिलाषा से ही करनी चाहिए। विषय सुख के प्रति अनुपादेय बुद्धि प्रगटे बिना एवं यह भौतिक सुख की स्पृहा भी कष्टदायी है और विषय सुख का भोग बाल चेष्टा मात्र है, ऐसी मान्यता बने बिना विषय सुख के प्रति घृणा भाव उत्पन्न हुए बिना श्री वीतराग परमात्मा की भक्ति में क्वचित् दत्तचित्त नहीं हो सकता है। श्री वीतराग की भक्ति तो वीतराग बनने के लिए करनी चाहिए। निराशंस भाव से करनी चाहिए। सांसारिक सुख की आशंसा महादोष है। अतः इस बात के लिए विशेष रूप में प्रयत्नशील रहना चाहिए कि यह विषय राग कहीं वीतराग की भक्ति में भी न आ जाये।

"जगत में प्रचलित आशा का दासत्व"

आशा के दास बनकर श्री वीतराग परमात्मा की भक्ति नहीं करनी है। बल्कि आशा को अपनी दासी बनाकर श्री वीतराग परमात्मा की भक्ति उस दृष्टि से करनी चाहिए कि, आशा पैदा ही न हो या आशा करनी ही न पड़े। कहा गया है :—

"आशाया ये दासाः
ते दासाः सर्वलोकस्य।

आशा दासी येषां
तेषां दासायते लोकः ॥

"जो आशा का दास बनता है, उसे सर्वलोक का दासत्व स्वीकार करना पड़ता है और जो आशा को अपनी दासी ... है, उसका दासत्व समस्त जगत स्वीकार करता है।"

अब आप ही कहें कि आपको दास बनना है या आपको यह प्रिय है कि समस्त जगत आपका दास बने ? लोक को दास बनाने की इच्छा ऐसी आशा भी नहीं चाहिए ! पर आशा मात्र का त्याग समस्त जगत को आपका दासत्व स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। आशा के योग से व्यक्ति कैसी-कैसी गुलामी करता है ? यह बात क्या आप से छिपी है ? कंगालों की आज्ञा का पालन करता है। यह किसका प्रताप है ? बुद्धिशाली भी मूर्खों की सेवा करते हैं यह किसके प्रताप से ? विद्वान भी अज्ञानियों की हां में हां मिलाते हैं। यह किसके प्रताप से ? धनवान भी सत्ताधारी मनुष्यों को प्रसन्न रखने का प्रयास करते हैं। यह किसके प्रताप से ? आराम प्रिय व्यक्ति भी दिन रात दौड़-धूप करता रहता है ! यह किसके प्रताप से ? स्नेह अथवा काम से पीड़ित होने पर भी कुटुम्ब घरबार और देश को छोड़कर

देश में भटकता है यह किसके प्रताप से ? धनवान और सत्ता-
री भी अज्ञान और विलासी स्त्रियों के हाथ के खिलौने बनते
यह किसके प्रताप से? इस जगत में एक या दूसरे रुप में सर्वत्र
सत्व ही. दासत्व का प्रवंतन हो रहा है। और इसका कारण
और कुछ नहीं, आशा मात्र ही है। संसार के सुख की आशा में
ी व्यक्ति ठोकर खाता रहा है प्रतिकूल आदमियों की आज्ञा
का पालन भी करता है। जिसके प्रति आदर नहीं ऐसे को भी
सन्न रखने के लिए गुलामी करता है और इतना होने पर
भी आखिर में तो निराश ही होना पडता है। किसी भी दिन
समस्त इच्छाऐं पूरी नहीं होती संसार के सुख की आशा का
स्वभाव ही ऐसा है जब वह फलवती होती तब तक संघर्ष
कराती रहती है। और फलवती होने पर व्यक्ति को उद्विग्न
बनाती है। और उद्विग्न बनाने के बाद उसे नयी-
नयी आशाओं के पीछे चक्कर कटाती रहती है। संसार का
सुख आपको जितना भी मिल जायें अधूरा लगेगा। संसार
के सुख के लिए भाग दौड करने वाला ऐसा एक भी
आदमी नहीं है, जो यह कहे कि मेरा मन प्राप्त सुख से
भर चुका है और अब मुझे कुछ भी आशा या ईच्छा
नहीं है।

गतानुगतिक पने से जो धर्मानुष्ठान किया जाता है उसे उपकारी महापुरुष 'अननुष्ठान, अथवा अन्योन्यानुष्ठान कहते हैं।

धर्मानुष्ठान के ये तीन प्रकार असद् अनुष्ठान के रूप में वर्णित किये गये हैं। उपकारी महापुरुषों ने उनके त्याग करने का फरमान किया है अर्थात् उपकारी महपुरुषों ने कहा है कि, यदि धर्मानुष्ठान करें तो इहलौकिक पौदगलिक सुख की अभिलाषा से न करें, पारलौकिक पौद्गलिक सुख की अभिलाषा से न न करें और गतानुगतिक पने से न करें। प्रश्न होगा कि फिर किस आशय से अनुष्ठान करें ? तो इसका उत्तर है कि, मोक्ष के आशय से।

मोक्ष के आशय से विधि-बहुमान जो धर्मानुष्ठान किया जाता है उसे तद्हेतु अनुष्ठान कहते हैं।

तद्हेतु अनुष्ठान और अमृतानुष्ठान ये दोनों सद् अनुष्ठान हैं। और इसीलिए उपकारी महात्माओं ने इन दोनों प्रकार के अनुष्ठानों को आचरित करने का परामर्श दिया है।

"धर्मानुष्ठान के आशय को अच्छा बनायें"

प्रश्नः- इहलोक अथवा परलोक के सांसारिक सुख
आशय से यदि धर्मानुष्ठान करते हों तो क्या उसे त्याग दें?

धर्मानुष्ठान का त्याग न करे पर इहलोक तथा पर
लोक के सांसारिक सुख के आशय को त्याग करके धर्मानुष्ठा
को मात्र मोक्ष सुख की प्राप्ति के आशय से करेंगे।
प्रश्नः- सांसारिक सुख का आशय न निकलता हो और मो
का आशय न आता हो तो क्या किया जाये?

यदि ऐसा न हो सके तो भी सांसारिक सुख के आश
को तजने की और मोक्ष सुख के आशय को पैदा करने की वृ
रखकर ही धर्मानुष्ठान करना चाहिए। मनमें बारम्बार य
विचार लाये कि मेरा यह पापमय आशय कैसे टले और क
मेरे में मोक्ष का आशय प्रकट हो।

प्रश्नः- ऐसी वृत्ति प्रकट न होती हो तो?

'सांसारिक सुख का मेरा आशय टले तो अच्छा हो औ

मोक्ष सुख का आशय मेरे में प्रकट हो तो, अच्छा' यह भाव यदि हृदय में प्रकट न होता हो तो आप ही कहें कि धर्मानुष्ठान आचरते हुए भी आप धर्म अथवा मोक्ष की आराधना कर रहे है या अर्थ और काम की ? कहना पड़ेगा कि यह वस्तुतः धर्म अथवा मोक्ष की आराधना नहीं है बल्कि निश्चित रुप से अर्थ और काम की आराधना है ! तो फिर साधु आपको इस प्रकार के धर्मानुष्ठान करने के लिए स्वीकृति भला कैसे दे ? अनुक्रम से सांसारिक सुख का आशय नष्ट हो जाये और मोक्ष सुख का आशय प्रकट हो, ऐसा लगे तब तक तो ठीक, जब एक मनुष्य जानबूझ कर केवल अर्थ और काम की आशा रखे और यह इच्छा ही न करे कि 'मोक्ष का आशय मेरे में प्रकटे तब क्या ऐसे धर्मानुष्ठान के करने की संमति एक मात्र मोक्ष मार्ग स्थापित श्री जिन शासन के त्यागी गुरु भला कैसे देंगे ! स्पष्ट है नहीं ही देंगे ! सांसारिक सुख के हेतु किये हुए धर्म से पुन्य बंधता है या पाप ?

"सांसारिक सुख के आशय से धर्मानुष्ठान करे तो पाप बंधता है या पुन्य ?"

प्रश्नः- संसारिक सुख के आशय से धर्म करने से पाप होता है या पुन्य ?

आशय की दृष्टि से पाप ही बांधता है और धर्मानुष्ठान की क्रिया होनें से वह पुन्य बांधता है। पर वो पुन्य भी पापानुबंधी होता है। इस पुन्य से देव गति आदि का सुख मिलना शक्य है। इस सुख सामग्री के लिए वह जीव अत्यंत असमाधिका अनुभव करता है और इस सुख सामग्री में जीव इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि बादमें उसे दीर्घकाल तक दुर्गतियों मे भटकना पडता है। धर्म की आशातना करने से उसे धर्म प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। सांसारिक सुख के भाव उठे पर मोक्ष सुख के भाव नहीं उठे तो भी यदि वृत्ति ऐसी हो कि मोक्ष सुख का आशय मिले तो ठीक अथवा ऐसी वृत्ति हो कि सांसारिक सुख के आशय का आग्रह न हो तो ठीक तभी [illegible] मार्ग पर [illegible] सकता है। पर यदि [illegible] का आग्रह हो तो [illegible] है, या दुर्भव्य है।

भारी कर्मवाला है। जीवोंने धर्मानुष्ठान प्राप्त किया है। मोक्ष-मार्ग समझानेवाले सद्गुरु के उपदेश का योग प्राप्त है, ऐसे मूढ अथवा अबोध नहीं है, कि अच्छे बुरे की पहचान न कर सके पर इतना होने पर भी मोक्ष का आशय लाने का यह आग्रह नहीं रखते। इससे तय होता है कि इतनी योग्यता इन जीवों में प्रकट नहीं हुई है। यदि मोक्ष के प्रति उनमें रुचि प्रकट हुई होती तो वह कहते कि सांसारिक सुख के आशय को निकालने के लिए तथा मोक्ष सुख के आशय को प्रकट कराने के लिए हम परिश्रम कर रहे हैं। यहां यह बात स्मरण में रखिये कि, यह बात धर्मा-नुष्ठान त्यागने की नहीं वरन् धर्मानुष्ठान में घुसे हुए अधर्म भाव को त्यागने की है।

सांसारिक सुख के आशय से ही क्या सांसारिक सुख की सामग्री मिलने वाली है ?

प्रश्न :– सांसारिक सुख की सामग्री के अभाव में समाधि भाव टिकता नहीं है, और धर्म को आचरित करने का उत्साह प्रकट नहीं होता है। अतः वह सांसारिक सुख के आशय से धर्मानुष्ठान करता हो तो ?

आजीविका के लिये गृहस्थों को भिक्षावृत्ति नहीं अपनाना चाहिये; मगर अनीति आदिका त्याग करनेका लक्ष तो तो रखना चाहिये न?

प्रश्न:अनीति के बिना धन न मिल सके ऐसा हो तो?

धनके लोभ से हीधनको प्राप्त करने की जिसे आकांक्षा नहीं है और अनीति का आचरण ही नहीं करना, ऐसा जिसका निर्णय है है उसे नीतिपूर्वक के प्रयत्न के बावजूद भी न मिले अथवा तो आवश्यकता से कम मिले ऐसा तो कदाचित् ही होता है, फिर भी असंभवित तो नहीं है। परंतु ऐसे समय में ऐसा मनुष्य खुद कम से कम आवश्यकताओं द्वारा निभा सके, इसका भी यत्न करता है। भूखों मरना मंजूर है पर अनीति का आचरण तो करना ही नहीं, ऐसी मनोदशा वाली आत्माएं भी हो सकती हैं धन के बनिस्पत धर्म को अधिक महत्व देने वाले से भी शायद अनीति का आचरण हो जाता है तब भी उसे अनीति का पश्चाताप होता है। आज तो ऐसा अनुभव प्रायः नहीं मिलता। गृहस्थों के लिए शास्त्रों ने ऐसा विधान नहीं बनाया कि 'धनोपार्जन करना ही नहीं'। परंतु 'धनोपार्जन में नीति का त्याग नहीं करना' ऐसा विधान तो अवश्य किया है। इस विधान का पालन धन के अतिलोभी से नहीं हो सकता।

मिलना दुर्लभ है, यह तो सही है। इस पर भी दिन-प्रतिदिन भूखमरी और बेकारी बढ़ती जाती है। अनीति करने से भी धन मिले तो समझना चाहिए कि, भाग्य का योग था, इसलिए मिला और यह भी सोचिये कि 'मेरा भाग्य कितना अशुभ है कि जो अनीति के बिना नहीं फला! पहले मेरे पास मेरे भाग्यने पाप करवाया और बाद में वह फला! ऐसे भाग्य को सफल करने के बजाय, उसको सफलता के बिना ही निभा लेना क्या बुरा है? कि जिससे भविष्य तो न बिगड़े!'

खैर! देवीने जब उस ब्राह्मण से उसकी भाग्य-हीनता की बात कही, तो वह ब्राह्मण स्वस्थ होगया। जो मिलता है उसी में संतुष्ट होने का उसने निर्णय किया और देवी को प्रणाम करके वह ब्राह्मण वहाँ से विदा होकर देवी द्वारा दिये हुए फल के साथ अपने स्थान-पर आया।

अपनी जगह आकर उस ब्राह्मणने स्नान करके देवपूजा की; और उसके बाद वह देवी के दिये हुए

फल को खाने बैठा। ऐसा आपका नियम है क्या? स्नान करके देव पूजा किये बिना, भोजन नहीं करना, प्रातः उठकर पहले देव को याद करते हैं या चाय देवी को? भगवान की स्तुति आदि का स्वाध्याय करते हैं या दैनिक अखबार पढ़ते हैं? देव-गुरु धर्म के प्रति-आपकी भावना कैसी बनती जा रही है, इस बात को ध्यान में लेने की आवश्यकता है।

देवी के द्वारा दिये हुए फल को खाने के लिए वह ब्राह्मण बैठा तो सही, किन्तु ब्राह्मण को ख्याल आया कि—'मेरे समान दरिद्र भिखारी यह फल खाकर अधिक काल तक जीवित रहे, इससे क्या फायदा होगा? इस फल को यदि मैं न खाकर, राजा को खाने के लिए दूं, तो इससे संसार को सुख मिलेगा। न्याय परायण राजा अधिक काल तक जीवित रहे तो प्रजा के सुख का ही कारण बनेगा न? वह ब्राह्मण है, दरिद्री है, फिर भी कैसा विचार करता है? केवल पेट होता तो? उस फल के खाने से कुछ नहीं तो भी, उस वक्त उसकी जीभ को तो वह अपूर्व स्वाद मिलता जो उसे कभी नहीं मिला होता, और उस के पेट की क्षुधा भी शांत होती। इतना होना तो निश्चित

हो या न? पर उसे जगत के सुख का विचार आता है और इससे वह ब्राह्मण स्नान करने की और भूख मिटाने की इच्छा को छोड़कर, वह फल राजा को देने के लिए तैयार हो जाता है।

धारा नगरी में उस वक्त राजा के रूपमें भर्तृहरि है, इसलिए वह ब्राह्मण राजा भर्तृहरि के पास जाकर वह फल उसे अर्पण करता है। यहाँ देवी का वचन सिद्ध होता है। देवी ने ब्राह्मण से कहा था कि–'धनवान होना तेरे भाग्य में नहीं है, पर थोड़ा-बहुत धन तुझे अवश्य मिलेगा।' राजा भर्तृहरि ने उस ब्राह्मण द्वारा दिया गया फल लिया और उस के बदले में ब्राह्मण को दक्षिणा के रूपमें कुछ धन दिया।

राजा का दिया हुआ धन लेकर वह ब्राह्मण रवाना हुआ, तो राजा ब्राह्मण के दिये हुए फल के संबंध में सोचने लगा। राजा सोचता है कि 'ऐसा दीर्घायुष्य देने वाला फल मैं खाऊँ उसमें फायदा ही क्या है? मैं लम्बे समय तक जीऊँ, पर मुझे अत्यन्तप्रिय ऐसी मेरी पटरानी

अपनी विरह वेदना का विचार आता है किन्तु पटरानी की विरह वेदना का विचार नहीं आता। पटरानी के अभावमें मैं जी नहीं सकूंगा'-यह विचार राजा को आता है, परन्तु 'पटरानी मेरे विना कैसे जी सकेगी?' – ऐसा विचार राजा को नहीं आता है।

प्रश्न :-राजा को ऐसा लगता हो कि जैसी प्रीति मुझे रानी के प्रति है वैसी ही गाढ़ प्रीति पटरानी को मेरे प्रति नहीं होगी, तो ?

यह संभव ही नहीं है। सामने वाले पात्रमें उतनी गाढ़ प्रीति हो या न हो, यह अलग बात है, परन्तु रागान्ध आदमी को यही ख्याल रहता है कि-जिस प्रकार उसके प्रति मेरे दिलमें गाढ़ प्रीति है, उसी प्रकार उसमें भी मेरे प्रति गाढ़ प्रीति है ही। सामने वाले पात्र के दिलमें मेरे प्रति गाढ़ प्रीति है ऐसी मान्यता ही गाढ़ प्रीति का सर्जन कर सकती है और उसे टिका सकती है। गाढ़ प्रीति वाला व्यक्ति ही अपने प्रति की प्रीति में यदि कुछ कमी हुई तो उसे सहन कर ही नहीं सकता। राजा भर्तृहरि तो

यदि मुझसे पहले ही मर जाये तो, उसके बिना मेरा जीना तो व्यर्थ है। यह न हो तो मैं तो जीवित होते हुए भी मुर्दे के समान हो जाऊँ! बादमें मेरे जीवन में आनंद योग्य रह ही क्या जाता है। इसलिए इस फल को मैं न खाकर मेरी पटरानी को ही खिलाऊं कि जिससे मेरी मृत्यु पर्यंत मुझे उसका एक क्षण के लिए भी वियोग न सहना पड़े।

देखिये, राजा भर्तृहरि को अपनी पटरानी के प्रति कितना भारी राग है? राजा को अपना जीवन प्रिय है, किन्तु वह भी पटरानी का योग हो तो! उसे पटरानी के वियोग में जीने की इच्छा ही नहीं है। राजा के इस राग को और भी बराबर याद रखना है, क्योंकि राजा सावधान होगा तब इस राग का एक अंश भी उसके किसी भी रोम में नहीं रहेगा। राग का अन्त नहीं होता, यह मान्यता ही गलत है। राग का अन्त होता है। तब तो अच्छे-अच्छे आश्चर्य में डूब जाते हैं कि ऐसा परिवर्तन आया तो किस प्रकार?

[illegible] यह बात भी विचारणीय है कि सामान्य [illegible] [illegible] में [illegible] में किस [illegible] होते हैं? राजा को

अपनी विरह वेदना का विचार आता है किन्तु पटरानी की विरह वेदना का विचार नहीं आता। पटरानी के अभावमें मैं जी नहीं सकूंगा'—यह विचार राजा को आता है, परन्तु 'पटरानी मेरे बिना कैसे जी सकेगी?' —ऐसा विचार राजा को नहीं आता है।

प्रश्न :—राजा को ऐसा लगता हो कि जैसी प्रीति मुझे रानी के प्रति है वैसी ही गाढ़ प्रीति पटरानी को मेरे प्रति नहीं होगी, तो?

यह संभव ही नहीं है। सामने वाले पात्रमें उतनी गाढ़ प्रीति हो या न हो, यह अलग बात है, परन्तु रागान्ध आदमी को यही ख्याल रहता है कि—जिस प्रकार उसके प्रति मेरे दिलमें गाढ़ प्रीति है, उसी प्रकार उसमें भी मेरे प्रति गाढ़ प्रीति है ही। सामने वाले पात्र के दिलमें मेरे प्रति गाढ़ प्रीति है ऐसी मान्यता ही गाढ़ प्रीति का सर्जन कर सकती है और उसे टिका सकती है। गाढ़ प्रीति वाला व्यक्ति ही अपने प्रति की प्रीति में यदि कुछ कमी हुई तो उसे सहन कर ही नहीं सकता। राजा भर्तृहरि तो

यही मानता है कि- जैसी गाढ़ प्रीति मेरी पटरानी के प्रति है वैसी ही गाढ़ प्रीति पटरानी को भी मेरे प्रति है। और इसीसे उस गाढ़ प्रीति ने ऐसी मनोदशा पैदा की है। पटरानी के विना मैं जी ही नहीं सकूंगा! अपनी बात तो यह कि -राजा को खुद को विरह वेदना में तड़पना पड़े, यह पसंद नहीं है, पर विरह के योग से पटरानी की क्या दशा होगी उस का विचार राजा को नहीं आता।

प्रश्नः- गाढ़ प्रीति वाले जान भी दे देते हैं न?

गाढ़ प्रीति के मोह में भान भूले हुओं को, प्रीतिपात्र के लिए प्राणों की आहुति दे देना सरल हो जाता है, पर वे उस के वियोग को सहन करने को तैयार नहीं होते। प्राणों की आहुति देनेमें तो ऐसों को अपनी गाढ़ प्रीति अन्त तक निभा रखने का और जिसके प्रति गाढ़ प्रीति है उस के वियोग को नहीं सहने का आनंद होता है; अथवा खुद की गाढ़ प्रीति के सामने वह खुद के जीवन को तुच्छ समझता है, परन्तु जिस के प्रति गाढ़ प्रीति हो, उसके सुख के लिए स्वयं वियोग को सह लेने की क्षमता, गाढ़ रागी जनों में

प्रायः नहीं होती। मनुष्य को जितना अपना सुख प्रिय होता है, उतना ही ख्याल अति प्रीति पात्र के सुख का शायद ही होता है। जीना और वियोग ही भोगना और प्रीति पात्र को सुखी होने देना, ऐसा तो कदाचित् ही बनता है। वे तो बहुधा तड़प-तड़प कर ही मरते हैं। स्वयं को अपना सुख प्रिय होने के बजाय, दूसरों का सुख प्रिय होता हो, ऐसा तो महाविवेकी और संतजनों के विषय में ही हो सकता है। बाकी तो स्वार्थ ही प्रथम होता है।

राजा भर्तृहरि की विचारधारा में जैसे पटराणी के प्रति गाढ़ प्रीति झलकती है, वैसे ही अन्दर ही अंदर स्वार्थ की मात्रा भी झलकती है! राग में होश-हवास खोने वालों को इस में से यह भी सोचने योग्य है। कितने ही कहते हैं कि-'मैं तो अमुक के बिना जी ही नहीं सकता'। किन्तु इस में अधिकतर सत्य नहीं होते। समय बीतने पर, बीती हुई को भूलने वाले ही बहुत होते हैं। इस प्रकार राग एक या अन्य प्रकार से भी

जाउं । ऐसा सोचकर रानी ने वह फल अपने यार हस्तिपालक को दिया।

उस हस्तिपालक की दशा भी ऐसी ही थी। वह भी पटरानी का उपासक था मगर स्वार्थ के लिए! पटरानी मानती थी कि—'हस्तिपालक मेरा है,लेकिन हस्तिपालक उसका नहीं था। हस्ति-पालक का राग एक वेश्या पर था। इसलिए जैसा विचार राजा को आया वैसा ही विचार हस्तिपालक को भी अपनी प्रिय वेश्या के लिए आया और उसने वह फल उस वेश्या को दिया।

फल देवी का दिया हुआ है, आकार भी सुन्दर है, सुमधुर रस-भरपूर और खाने वाले के लिए असाधारण लाभकर्ता है। फिर भी उस फल को कोई नहीं खाता और वह फल एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे के पास, इस प्रकार घूमता ही रहता है। इस अमरफल का निमित्त भर्तृहरि में अमर भावना पैदा करना है। भर्तृहरि की भवितव्यता अच्छी है इसीसे ऐसा बनता है।

इधर वेश्या क्या विचार करती है यह सोचिये। हस्ति-पालक को वेश्या का राग था,पर वेश्या को किसी का राग होता है?

वेश्या का किसी एक के साथ अनुबन्ध थोड़ा ही होता है ? हस्तिपाल के दिए हुए अमरफल को देखकर वेश्या को अलग ही विचार आता है। वह सोचती है – 'मुझ जैसी स्त्री अधिक काल तक जीये इसमें फायदा ही क्या है ? यह फल मैं खाऊं तो मुझे इतना ही फल मिलेगा कि, मेरा आयुष्य काल बढ़ जायेगा; पर यह भी कोई फायदा है ? ऐसा फल मेरे ही हाथ में आया है, यह मेरे भाग्योदय का सूचक है। इस फल प्राप्ति का ऐसा उपयोग करूं कि जिससे मुझे कोई असाधारण फल की प्राप्ति हो। यह फल मैं अन्य किसी को न देकर, केवल राजा को ही दूं और इससे राजा मुझपर, प्रसन्न हो जायगा तो मेरी भी किस्मत खुले विना नहीं रहेगी।

ऐसा सोचकर वह वेश्या भर्तृहरि के पास आती है। हस्तिपाल का दिया हुआ अमरफल राजा के चरणों में धरती है। यह फल कितना चमत्कारी है, उसका वर्णन करती है। और उसके पश्चात् राजा के लिए कुशलता

की कामना करती है।

वेश्या, राजा फच प्रसन्न हो उसकी राह देख रही है पर राजा के अंतःकरण में जबरदस्त हलचल मची हुई है। वेश्या के हाथों में अमरफल देखकर राजा दुःखी होता है और विचार करता है कि– 'मैंने जो फल मेरी प्रियतमा को दिया था, वह अमरफल इस वेश्या तक पहुँचा किस प्रकार?'

राजा वेश्या को पूछता है कि 'यह अमरफल तुझे किसने दिया?' वेश्या कभी सच्चा उत्तर देती है,? किन्तु, यहाँ तो सामने राजा था और यदि वह गुस्सा होजाय तो मृत्युदण्ड भी दे दे, इससे राजा ने ज्यों ही सच कहने का हुक्म किया, त्यों ही वेश्याने कह दिया– 'मुझे यह फल आपके हस्तिपालक ने दिया है'।

इससे राजा ने हस्तिपालक से पूछा। हस्तिपालक को

सकता, नहीं कर सका और नहीं कर सकेगा। वैसे ही
भगवान श्री जिनेश्वर देव प्ररुपित धर्म को सोचते हुए,
जैन दर्शन की बराबरी भी कोई भी दर्शन करा सके
ऐसा नहीं। अतः स्वयं भगवान श्री जिनेश्वर देवों द्वारा
प्ररुपित दर्शन के हिसाब से भी उनकी ही सर्व प्रधानता
साबित होती है। जिन तारकों की वीतरागता दुनिया
आदर्श बनी जिन तारकों द्वारा प्ररुपित दर्शन राग
गर्त में लुढकती हुई दुनिया को अधिक गहरी गर्त में
गिरने से रोकता है और उसके अन्दर फंसी हुई दुनिया
को बाहर निकालता है, ऐसे देव की बराबरी में कौन
खड़ा रह सकता है? अरे! श्री वीतराग की मूर्ति के दर्शन
की अनुमोदना मात्र भी यदि सच्चे भाव से हो जाय, तो
भी आत्मा का संसार कट जाय! ऐसे भगवान श्री जिने-
श्वर देव ही सर्व प्रधान हो सकते हैं। ऐसे भगवान श्री
जिनेश्वर देव ही सर्वप्रधान कहे जाय इसमें आश्चर्य होने
जैसा क्या है?

भगवान श्री जिनेश्वर देवों के दर्शन के लिये एक
जैन जा रहा है। उसे रास्ते में उसका एक मित्र मि-

जाना है। वह मित्र जैन नहीं है । वह पूछता है कि—'कहाँ जाता है ?

दर्शनार्थ जाने वाला मित्र कहता है —'मैं भगवान के दर्शन को जाता हूं।'

मित्र पूछता है कि-'भगवान के दर्शन को ? भगवान का क्या उपकार है कि भगवान के दर्शन को जाना ?

ऐसा प्रश्न तुम्हें तुम्हारा कोई मित्र पूछे, तो तुम क्या कहोगे ? भगवान का हमारे ऊपर, संसार के प्राणी मात्र पर, कैसा उपकार है यह तुम समझा सकोगे? भगवान की मूर्ति के दर्शन से हमें, दर्शन करने वालों को क्या फ़ायदा होता है, तुम उसका वर्णन कर सकोगे ? तुमने यदि ऐसा ज्ञान प्राप्त किया है तो तुम अपने मित्रों का, सम्बन्धियों का अनुपम उपकार कर सकोगे। हमारे माने हुए देवतत्व, गुरुतत्व और धर्मतत्व—ये तीनों कल्याण कारी तत्व ऐसे हैं कि उसकी समानता में कोई भी आ ही नहीं सकते। पर जानो और दूसरों को बताओ तब न ?

सकता, नहीं कर सका और नहीं कर सकेगा। वैसे ही भगवान श्री जिनेश्वर देव प्ररूपित धर्म को सोचते हुए, श्री जैन दर्शन की बराबरी भी कोई भी दर्शन करा सके ऐसा नहीं। अतः स्वयं भगवान श्री जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित दर्शन के हिसाब से भी उनकी ही सर्व प्रधानता साबित होती है। जिन तारकों की वीतरागता दुनिया का आदर्श बनी जिन तारकों द्वारा प्ररूपित दर्शन राग के गर्त में लुढकती हुई दुनिया को अधिक गहरी गर्त में गिरने से रोकता है और उसके अन्दर फंसी हुई दुनिया को बाहर निकालता है, ऐसे देव की बराबरी में कौन खड़ा रह सकता है? अरे! श्री वीतराग की मूर्ति के दर्शन की अनुमोदना मात्र भी यदि सच्चे भाव से हो जाय, तो भी आत्मा का संसार कट जाय! ऐसे भगवान श्री जिनेश्वर देव ही सर्व प्रधान हो सकते हैं। ऐसे भगवान श्री जिनेश्वर देव ही सर्व प्रधान कहे जाय इसमें आश्चर्य होने जैसा क्या है?

भगवान श्री जिनेश्वर देवों के दर्शन के लिये एक जैन जा रहा है। उसे रास्ते में उसका एक मित्र मिल

थे समर्थ थे। उन महापुरुष ने अपनी आत्मा का ऐसा उत्कर्ष प्रकट किया कि जिसके योग से उन महापुरुष ने अपने जीवनकाल में १४४४ ग्रंथों की रचना की। आज उन महापुरुष के द्वारा रचित सभी ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, केवल कुछ ही ग्रंथ उपलब्ध हैं, परन्तु परम्परा से ऐसी बात चली आ रही है कि–उन महापुरुष ने १४४४ ग्रंथों की रचना की।

ये महापुरुष ऐसे समर्थ हुए, फिर भी वे उन साध्वीजी के उपकार को नहीं भूले कि जिन साध्वीजी ने स्वाध्याय करते हुए उच्चारित गाथा का अर्थ उनकी समझ में नहीं आया था। वे जानते थे कि–'यदि उन साध्वीजी ने मुझे गुरुजी के पास न भेजा होता, तो ऐसा सुन्दर परिणाम नहीं आता!' इसी से, परम आचार्य भगवान श्रीमद् हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज ने, अपने प्रत्येक ग्रंथ में स्वयं को 'याकिनी–महत्तरा–सूनु' यानि कि–याकिनी नाम की महत्तरा (विशिष्ट साध्वी) के पुत्र के रूप में अपना परिचय कराता उन साध्वीजी का इतना सारा उपकार वे याद करते रहे,

तेषां स्वरुपगुणमागम सं प्रभावत् ,
ज्ञात्वा विचारयत कोऽत्र परापवादः॥१॥

परम उपकारी आचार्य भगवान श्रीमद हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज ने यह बात बहुत ही मध्यस्थ भाव से कही है और शुद्ध मध्यस्थ भाव से इस बात को सोचने वाले जैनेतर को भी 'भगवान श्री जिनेश्वर देव ही सर्वप्रधान हैं, ऐसा लगे इस प्रकार यह बात कही है। स्वयं भगवान श्री जिनेश्वर देवों के परम उपासक बने हैं। पहले ब्रह्मा, विष्णु और महेश के उपासक थे। इससे वह जैन और जैनेतर धर्म शास्त्रों के ज्ञाता थे। भगवान श्री जिनेश्वर देवों के शासन के शास्त्रों में, भगवान श्री जिनेश्वर देवों के स्वरुप का वर्णन किया हुआ है तथा उन तारकों में क्या क्या गुण है इसका भी वर्णन किया हुआ है, उसी प्रकार अन्य शास्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्वरुप का और उनके गुणों का वर्णन किया हुआ है। इस प्रकार प्राप्त देवों के स्वरुप वर्णन और गुण वर्णन की ओर ये महापुरुष सबका ध्यान खींचते हैं।

तथ्या अच्छी हो, तो योग भी अच्छा मिल जाता है। गुरु महाराज ने उन्हें साधु दीक्षा लेकर विधि पूर्वक शास्त्राभ्यास करने को कहा, फलतः एक पल की भी देर किये बिना श्री हरिभद्र पुरोहित श्री जैन शासन की सर्वविरति रूप भागवती दीक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार होगये।

वे ऐसा भी नहीं पूछते कि – 'केवल एक गाथा को समझने के लिए, श्री जिन शासन की दीक्षा की क्या जरुरत है?' कारण कि उस काल में अन्य शासनों में भी शास्त्र विधि के पालन का खूब आग्रह रखा जाता था। जिसे ज्ञान की, धर्म की परवाह हो, उसे विधि के प्रति बहुमान न हो–यह हो नहीं सकता। प्रत्येक श्रम की सफलता, उसकी विधि पर निर्भर है। भोजन भी स्त्रियाँ विधि पूर्वक करती हैं इसलिए तुम्हारे खाने योग्य बनता है। बाजार में शराफत में तुम विधि के अनुसार वर्तन करते हो वहाँ तक ही तुम्हारी मर्यादा रहती है। लेकिन आज-कल मंदिरों में और अन्य धर्म स्थानों में विधि के प्रति अधिकाधिक बेपरवाही आती जा रही है। नित्य धर्म

निमित्त उन साध्वीजी का बहुत-बहुत उपकार मानने का दिल हो जाता है न ? किन्तु यदि भगवान श्रीजिनेश्वरदेवों का शासन उन्हें इस प्रकार उपकारक न लगा होता तो जिस प्रकार साध्वीजी का उपकार माना है उस प्रकार उपकार मानने का दिल होता ? हरगिज नहीं। इसीलिए, कहिये कि उन्होंने याकिनी नामक साध्वीजी का उपकार माना है उसमें तीसरे कारण की प्रबलता अधिक है।

आचार्य भगवान श्री मद् हरिभद्र सूरीश्वर जी महा विद्वान थे; फिर भी उनका ज्ञान संपादन करने की भावना कितनी प्रबल थी, यह बात भूलने जैसी नहीं है। ज्ञान संपादन करने की उनकी भावना अति प्रबल थी, इसीलिए श्री जैन शासन की साधु दीक्षा को सरलता से प्राप्त कर सके। साध्वी द्वारा निर्दिष्ट गुरु के पास वे केवल साध्वी द्वारा उच्चारित गाथा का अर्थ-जानने के लिए गये या दीक्षा ग्रहण करने गये थे ? वे अपने घर से निकले तब उन्हें कल्पना भी नहीं थी न कि मुझे दीक्षा लेनी है! परन्तु गुरु महाराज ने कहा कि-'उस गाथा का अर्थ जानना हो तो साधु दीक्षा लेकर विधिपूर्वक शास्त्राभ्यास

करना होगा।' तो वे वैसा करने के लिए भी तैयार हो गये न? जैन दीक्षा लेना कोई खेल है? धन–धान्य, घरवार कुटुंब–परिवार आदि का जीवनभर के लिए त्याग करना न? विषयसुख की अभिलाषा का भी तो त्याग करना न? केवल आज्ञांकित जीवन ही जीना न? एक गाथा भी विना अर्थ समझे रह जाये, इसके लिए इतने महान त्याग को कौन स्वीकार करे? अन्य कोई करे या न करे लेकिन श्री हरिभद्र पुरोहित ने तो तत्काल इतने महान त्याग को भी स्वीकार कर ही लिया! तव उनकी ज्ञान संपादन करने की भावना कितनी उत्कट कोटि की होगी? इससे यह भी सोचना चाहिए कि उनके जैसे ज्ञान के पिपासु जीव तो यदि अन्य कोई स्थल अच्छा लगा होता तो वे उसको स्वीकार किये विना रह सकते थे? कहिये, हरगिज नहीं! इसलिए उनके वचनों का मूल्य महान गिना जाता है! उन महापुरूने एक जगह कहा है कि:–

प्रत्यक्षतो न भगवान ऋषभो न विष्णु
रालोक्यते न च हरः न हिरण्यगर्भ।

तेषां स्वरूपगुणमागम सं प्रभावत् ,
ज्ञात्वा विचारयत कोऽत्र परापवादः॥१॥

परम उपकारी आचार्य भगवान श्रीमद हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज ने यह बात बहुत ही मध्यस्थ भाव से कही है और शुद्ध मध्यस्थ भाव से इस बात को सोचने वाले जैनेतर को भी 'भगवान श्री जिनेश्वर देव ही सर्वप्रधान हैं, ऐसा लगे इस प्रकार यह बात कही है। स्वयं भगवान श्री जिनेश्वर देवों के परम उपासक बने हैं। पहले ब्रह्मा, विष्णु और महेश के उपासक थे। इससे वह जैन और जैनेतर धर्म शास्त्रों के ज्ञाता थे। भगवान श्री जिनेश्वर देवों के शासन के शास्त्रों में, भगवान श्री जिनेश्वर देवों के स्वरूप का वर्णन किया हुआ है तथा उन तारकों में क्या क्या गुण है इसका भी वर्णन किया हुआ है, उसी प्रकार अन्य शास्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्वरूप का और उनके गुणों का वर्णन किया हुआ है। इस प्रकार प्राप्त देवों के स्वरूप वर्णन और गुण वर्णन की ओर वे महापुरुष सबका ध्यान खींचते हैं।

बात कही, परन्तु उस सभा में ब्राह्मण अधिक थे। उन्हें यह बात पसन्द नहीं आई, क्यों कि–उनके हृदय में मिथ्याभाव का आग्रह था। सभा में कोलाहल हो गया। पंडित रामभिश्र विद्वान थे, जबर्दस्त थे इसलिए ब्राह्मणों को तत्काल तो मौका हाथ न लगा, पर परिणाम यह आया कि–पंडित रामभिश्र बनारस छोड़कर नवद्वीप-बंगाल में जाकर बसे।

यह तो एक हकीकत के तौर बात कही, किन्तु समझने का यह है कि–तुम्हें भगवान श्री जिनेश्वर देवों के जीवन के तथा उपदेश के ज्ञाता बनना चाहिए और उसके बाद अन्यों में देवों के रूपमें पूजेजाने वालों के जीवन और उपदेश ज्ञाता बनना चाहिए। तुम यदि इस प्रकार के ज्ञाता बनो,–तो 'भगवान श्री जिनेश्वरदेव ही सर्व प्रधान हो सकते हैं'–इस बात का तुम अच्छी से अच्छी प्रकार से समर्थन कर सकते हो। फिर कैसा ही विद्वान क्यों न हो वह तुम्हें गलत रास्ते पर नहीं ले जा सकता और तुम अनेकों को सन्मार्ग की ओर ले जा सको। तुम ऐसे ज्ञाता बनो इसमें स्व-पर का कल्याण ही है।

" सार्वीय रूप में भगवान की स्तवना "

वर्तमान शासन के स्थापक श्री महावीर परमात्मा के ११ गणधर देवों में से पांचवे गणधर भगवान श्री सुधर्मास्वामीजी महाराज रचित बारह अंग सूत्रोंमें पंचम अंग सूत्र श्री भगवती सूत्रकी टीका रचने के लिए उद्यत आचार्य भगवान श्रीमद् अभयदेव सूरीश्वर जी महाराजा इस टीका के प्रारंभ में मंगला चरण करते हैं। और मंगल का आचरण करने के लिए इस महापुरुषने पहले श्लोक में भगवान श्री जिनेश्वर देवोंको पन्द्रह विशेषणों से स्तवना की और उन तारकों को प्रयत्नपूर्वक प्रणाम किया है। अभी तो हम भगवान श्री जिनेश्वर देवों के लिए प्रयुक्त १५ विशेषणों पर विचार कर रहे हैं। इन १५ विशेषणों में से सर्वज्ञ, ईश्वर, अनन्त, असंग और अग्र्य इन ५ विशेषणों के बारे में हम कुछ विचार कर चुके हैं। अब आज श्री जिनेश्वर देवोंके लिए प्रयुक्त १५ विशेषणो में से छट्ठे विशेषण पर विचार प्रारंभ कर रहे हैं। टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् अभयदेव सूरीश्वरजी महाराजा द्वारा भगवान श्री जिनेश्वर देवके प्रति प्रयुक्त यह छठ्ठा विशेषण है 'सार्वीयम्'।

मंगलाचरण के तीन प्रकार

मंगला चरण तीन प्रकारके होते हैं। एक नमनात्मक अथवा स्तुत्यात्मक मंगलाचरण, दूसरा आशीर्वादात्मक मंगलाचरण,

भगवान श्री जिनेश्वर देवने कभी जगतके सर्व प्राणियों को तार नहीं दिया है। भगवान श्री जिनेश्वरदेवने यदि जगत के समस्त प्राणियों को तार दिये होते तो हम-आप यहां न होते। आपने भी मोक्ष प्राप्त कर लिया होता और मैंने भी मोक्ष प्राप्त कर लिया होता। मात्र आपकी और हमारी बात क्या करने की? भगवान श्री जिनेश्वर देवने इस जगत के प्राणी मात्रको तार दिया होता तो यह जगत ही इस रूपमें नहीं होता। जगत में मात्र जीव और मात्र जड का ही अस्तित्व होता पर जगत में किसी भी जीवका जड के साथ संम्मिलित अस्तित्व ही नहीं होता। कारण जगत के सब जीव मोक्षको ही प्राप्त कर लेते। हम सब अथवा अभी संसार में जितने जीव विद्यमान हैं, वे सब जीव, पहले मोक्ष में थे और पुनः संसार में आये, ऐसा तो तुम मानते नहीं न? जो जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह जीव पुनः संसार में कभी भी भटकने नहीं आता। संसार में जीवको भटकाने वाला कौन है? कर्म। कर्मसे बंधता कौन है? जो जीव रागादि सहित हो और शरीर धारी हो वही जीव कर्म का उपार्जन करता है। रागादि से सर्वथा मुक्त हो जाने पर भी जो जीव शरीर धारी होते हैं उन जीवों को भी साता वेदनीय कर्म का बंध चालु ही रहता है। मोक्ष जानेवाले जीव को भी, वह मोक्ष प्राप्त करे उससे पहले, केवल पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण में जितना समय लगे उतने समय के लिए ही, अक्रिय अवस्था प्राप्त होती है। उसे

चौदहवाँ गुणस्थानक कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव इस चौदहवें गुणस्थानक को प्राप्त करते ही मोक्ष प्राप्त करते है। चौदहवें गुणस्थान का काल समाप्त होते ही ये पुन्यात्माएं शरीर मुक्त हो जाती है। और उन पुन्यात्माओं के शरीर का योग सदा-सर्वदा के लिए छुट जाता है। उन्हें न तो औदारिक शरीर होता है और न कार्मण शरीर। उनके कोई शरीर ही नहीं। इसी कारण तो श्री सिद्धात्माएँ अशरीरी कही जाती है। चौदहवें गुणस्थानक प्राप्त करने से पूर्व ही रागादिक तो सर्वथा क्षीण हो चुके होते हैं और चौदहवें गुणस्थानक के अन्त में अशरीरी अवस्था भी प्राप्त हो जाती है।

अतः जो भी जीव मोक्ष को प्राप्त करता है, वह जीव कदापि किसी काल में भी कर्मोपार्जन नहीं करता। और कर्म का योग हुए बिना संसार सम्भवित नहीं है। अतः जो भी जीव आज संसार में विद्यमान है उन्होंने पहले मोक्ष प्राप्त कर लिया था और फिर संसार में आये ऐसा हो ही नहीं सकता

वर्तमान में जो जीव संसार में विद्यमान हैं वे अनादि-काल से ही विद्यमान हैं। अब फिर अपनी मूल बात पर आजाएँ कि भगवान श्री जिनेश्वर देव जगत के प्राणीमात्र का हित-कर्ता है इस प्रकार की स्तवना कैसे योग्य है? अनादि इस संसार में कितने जिनेश्वर देव हो चुके? इस संसार में

अनन्तानन्त जिनेश्वर देव हो चुके हैं। पर फिर भी जगत के जीवों के समूह का कितनेवाँ भाग ही अवतक मोक्ष प्राप्त कर सका है? ज्ञानी लोग कहते हैं कि जगत में जितने जीव हैं उसका अनन्तवाँ भाग ही अवतक मोक्ष प्राप्त कर सका है'। अनन्तकाल वीते और उन अनन्ता कालों में अनन्त श्री जिनेश्वर देव हो जायें तो भी जितने जीव आज संसार में विद्यमान है उन जीवोका अनन्तवाँ भाग ही मोक्ष प्राप्त करनेवाला है। अनन्तकाल बीत जाने के पश्चात् भी यदि किसी ज्ञानी से यह पूछा जाये कि–'हे भगवान! इस संसार में कितने जीव विद्यमान हैं और इस संसार में से कितने जीवों ने अब तक मुक्ति प्राप्त की है! तो वे ज्ञानी इसका यही उत्तर देंगे कि – 'अब भी इस संसार में अनन्तानन्त जीव विद्यमान हैं और अब तक जितने जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है उन समस्त जीवों को लक्ष्य में रख कर संसार में विद्यमान तथा मोक्ष को प्राप्त ऐसे जीवों का प्रमाण ढूंढा जाय तो संसार में विद्यमान जीवों से मोक्ष प्राप्त करने वालों का प्रमाण अनन्तवां भाग ही है।

इसे दृष्टि मे रखकर हम इस बात पर विचार कर रहे हैं कि अनन्त श्री जिनेश्वर देव होनेपर भी यदि संसारमें विद्यमान जीवों का अनन्तवाँ भाग ही मोक्ष को प्राप्त करता है तो फिर हम भगवान श्री जिनेश्वर देव को 'सार्वीय' 'अर्थात्'

शासन के रसिक बना दूं अन्तिम भवसे तीसरे भवमें ऐसी ही विचारणा तो होती है। सर्व जीव शासन के रसिक बनें, इस भावना के पीछे इन पुण्यपुरुषोंका आशय क्या होता है ? आप भी स्वीकार करेंगे कि उनका आशय यही होता है कि सब सुखी हों और जगत में कोई दुःखी न रह जाये ! यह भावना तो सर्व जीवों के हित की है न ? सच ही है।

कोई भी व्यक्ति यदि आपके हित का विचार करे और उसकी यदि आपको सूचना मिले तो इससे आपको आनन्द ही होगा और उसका उपकार मानने को जी करेगा। आप उसके लिए कहते हैं कि यह मेरा हितैषी है। इस प्रकार भगवान श्री जिनेश्वर देव संसारके समस्त जीवों के हित की भावना भाते हैं। इसीलिए यह कहना पूर्णतया सच है कि ये महाभाग जगत के प्राणीमात्र के हितैषी हैं।

"सर्व के हित का ही उपदेश"

अपने अन्तिम भवमें भगवान श्री जिनेश्वर देव धर्मतीर्थ की स्थापना करते हुए, स्वतंत्र रूपसे जिस धर्म की प्ररूपणा करते हैं। वह धर्म किस प्रकार का हैं ? श्री आचाराङ्ग नामक प्रथम अंग सूत्र में कहा है कि "जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खन्ति, एवं

भासंति, एवं पण्णविंति एवं परूविंति—सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिया-वेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निईए सासए समिच्च लोगं खेयण्णहिं पवेइए।"

अबतक जो अनन्त तीर्थंकर भगवान हुए हैं, उन्होंने धर्म किसे कहा है? वर्तमान में पांच महाविदेह क्षेत्र में विचरते श्री तीर्थंकर भगवान भी धर्म किसे कहते हैं? और भविष्य में जो अनन्त तीर्थंकर भगवान होनेवाले हैं वे भी धर्म किसे कहेंगे? यानि कि शुद्ध धर्म का किस प्रकार प्रतिपादन करेंगे। यही बात इस पाठ में वर्णित है।

ये समस्त तारक भगवान प्ररूपणा करते रहे हैं प्ररूपणा करते हैं और प्ररूपणा करेंगे कि किसी भी जीव की हिंसा करना उचित नहीं है। प्राणी शब्द, भूत शब्द, जीव शब्द और सत्व शब्द एकार्थवाची रूप में ग्रहण किया जा सकता है और प्राणी शब्द से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय भूत शब्द से वृक्ष और वनस्पति काय, जीव शब्द से चारों गतियों में स्थित पंचेन्द्रिय जीव और सत्व शब्द से बाकी के अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय के जीव, ऐसा अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

इस संसार में स्थित सर्व जीवो में से एक जीव का भी प्राण हरण नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं पर उनमें से किसी भी जीवको ताडना आदि नहीं करनी चाहिए और किसी भी जीवपर जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए, किसी भी जीव को अपनी ही गुलामी की हालत में नहीं रखना चाहिए। किसी भी जीवको शारीरिक अथवा मानसिक परिताप नहीं देना चाहिए।

यह धर्म शुद्ध भी है, नित्य भी है और शाश्वत ऐसे मोक्षपद का दाता भी है।

संसार में जीव दुःखरुप सागर में डूब गये हैं, उन जीवों के दुःख को जान कर उनका दुःख दूर हो जाय यानी संसार के जीव दुःखरूपी सागरसे पार हो जाये इस दृष्टि से सर्व जीवों के हित करनेवाले श्री जिनेश्वर देव इस प्रकार के धर्म की प्ररूपणा करते हैं। भगवान श्री जिनेश्वर देवों के शासन में जिन–जिन व्रतों का उपदेश किया है उन सब व्रतों में 'हिंसाविरमण' व्रत को ही प्रधानता हैं। साधुओं के पांच महाव्रतों में प्रथम महाव्रत 'हिंसा विरमण' और देश विरतिधर श्रावकों के अणुव्रतों में भी प्रथम अणुव्रत 'स्थूल हिंसा विरमण' ही है। अन्य सभी व्रत इस व्रत की रक्षा, पुष्टि और वृद्धि के लिए है।

जब तक हिंसा से विराम पाने का भाव उत्पन्न नहीं होता तब तक कोई भी व्रत सच्चे व्रत के रूप में फल देने में समर्थ नहीं बन सकता।

यह बात सोचना चाहिए। भगवान श्री जिनेश्वर देवोंने जगत के जीवोंको तारने के लिए जो कुछ भी संभव था, किया। एक घोड़े को प्रतिबोध प्राप्त कराने के लिए भगवान श्री मुनिसुव्रत-स्वामीने एक रात में २४० कोस विहार किया था और उस जीव को प्रतिबोधित किया। भगवान श्री महावीर परमात्मा ने एक किसान के जीव को प्रतिबोधित करने के लिए अपने प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी जी को वहां भेजा, जहां वह हल चला रहा था। इस प्रकार के अनेक उदहारण भगवान श्री जिनेश्वर देव के चरित्र में मिलेंगे।

केवल ज्ञान को प्राप्त कर धर्मतीर्थ की स्थापना करने के बाद से लेकर अपने नीर्वाण पर्यंत एक दिन का भी अन्तर दिये विना नित्य स्वयं दो प्रहर धर्म देशना देते हैं और नित्य एक प्रहर इन तारक भगवानों के गणधर देशना देते हैं, दिन के चार प्रहर में से पहले प्रहर में भगवान स्वयं देशंना देते हैं और दूसरे प्रहर में गणधर भगवान देशना देते हैं और ज्योंही तीसरा प्रहर समाप्त होता है तो भगवान स्वयं देशना देते हैं। इस प्रकार चार प्रहरों मे केवल तीसरा प्रहर ही खाली जाता है।

भगवान श्री जिनेश्वर देवों की देशना सुनने वाले जीवों में भी ऐसे भी कितने ही जीव होते हैं जिन्हें भगवान की दी हुई देशना रुचिकर नहीं लगती। जैसे-मूंग दो प्रकार के होते हैं। एक पकने वाला और दूसरा न पकने वाला। एक मूंग ऐसा होता है

जो थोड़ी ही देर तक चूल्हे पर चढ़ाने से पक जाता है, जबकि दूसरा चूल्हे की सब लकड़ियाँ जल जाने पर भी नहीं पकता। यहाँ तक कि आग भी बुझ जाती है। अग्नि में और पानी में मूंग को पकाने की तो शक्ति है किन्तु नहीं पकने वाला मूंग किसी भी हालत में नहीं पकेगा। यहां क्या कहना चाहिए? अग्नि और पानी में शक्ति का अभाव है—ऐसा नहीं कह सकते। वरन् उस प्रकार का मूंग अयोग्य है ऐसा ही कहना चाहिए।

रोगों में भी साध्य और असाध्य दोनों ही होते हैं। रोग साध्य होने पर भी जब तक अवसर नहीं आता असाध्य के समान ही होता है। इसी प्रकार जगत में जितने जीव हैं, सब में मोक्ष प्राप्ति की योग्यता नहीं होती जगत में ऐसे भी बहुत से जीव हैं जिन जीवों में मोक्ष प्राप्त की योग्यता है, उनमें भी अनेक जीव ऐसे होते हैं जिनकी भवितव्यता काल आदि पके नहीं होते हैं।

जिस प्रकार रोगों को अचूक मिटाने के सामर्थ्य वाले धन्वन्तरि वैद्य भी उन रोगों में असमर्थ होते हैं, जो कि स्वभाव से असाध्य हैं। कुछ रोग ऐसे हैं जो टाइफाइड ज्वर के समान साध्य होने पर भी उचित समय के बिना धन्वन्तरि द्वारा भी नहीं मिटाये जा सकते। उसी प्रकार भगवान श्री जिनेश्वर देव बहुत परिश्रम करते हैं, संभव हो उतना अधिक परिश्रम करते

यह रखा कि मुक्ति की अभिलाषा वाले और मुक्ति मार्ग की श्रद्धा वाले असमर्थ से असमर्थ जो भी जीव हों, वह कम-से-कम सही अंश में मुक्ति मार्ग की आराधना करने में समर्थ हो सके। जो व्यक्ति नगर में अथवा जंगल में भूला हुआ होता है उसे यह भान तो होता है कि उसे कहाँ जाना है पर संसार में भटकते हुए व्यक्ति को तो इतना भी ज्ञान नहीं रहता कि उसे मोक्ष प्राप्त करना है। इसीलिए भगवान श्री जिनेश्वर देवोंने मोक्ष की इच्छा प्रकट कराने का काम किया और मोक्ष का उपाय अर्थात् मोक्ष का सीधा मार्ग बताया। इसलिए यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि, श्री जिनेश्वर देव जगत के जीवोंके तारक हैं तथा मोक्षदाता हैं।

इतना समझाने पर भी शायद कोई यह कहे कि, "आप जो कुछ कहते हैं वह सब स्वीकार्य है। भगवानने किसी का भी अहित नहीं किया, यह भी स्वीकार्य है। उनकी भावना सबका हित करने की थी यह भी स्वीकार्य है और इन तारकों के उपदेश से जिन जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है, तथा करते हैं, उन जीवों का श्री जिनेश्वर भगवानोंने हित किया है यह भी स्वीकार्य है पर आपतो उन्हें 'सर्व जीवोंका हित करने वाले' कहते हैं, तो आप मुझे यह तो बताइये कि, उन्होंने जगत के समस्त जीवों का कौनसा हित किया ?"

यह ऐसा प्रश्न है, जिसका भी उचित समाधान किया जा सकता है। मोक्ष मार्ग की स्वतंत्र रूप से प्ररूपणा श्री जिनेश्वर देव ही करते हैं। जिन-जिन-क्षेत्रोमें जब-जब भगवान श्री जिनेश्वर देवोंका शासन विद्यमान नहीं होता। उन-उन क्षेत्रों में कोई भी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अथवा वह मोक्ष को और मोक्ष प्राप्ति के उपाय भी नहीं जान सकता। इससे यह बात सिद्ध है कि, जो भी जीव मोक्ष प्राप्त करेंगे, उन सबके लिए निमित्त भगवान श्री जिनेश्वर देव ही हैं और रहेंगे।

आप इस बात पर विचार करें कि कोई भी जीव मोक्ष प्राप्त करता है तो उसका प्रभाव जगत पर क्या होता है? कोई जीव यदि मोक्ष प्राप्त करता है तो उससे जगत को लाभ क्या होता है या हानि लाभ कुछ नहीं होता? कहना पडेगा कि, किसी भी जीव के मोक्ष प्राप्त करने से जगत के जीवों को हानि नहीं होती, लाभ ही होता है। जो जीव मोक्ष प्राप्त करता है वह जीव जगत के अन्य जीवों के लिए मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रेरणादायक बनता है।

"श्री नवकार मन्त्र में दूसरा पद क्या है? "नमो सिद्धाणं" इसका अर्थ है कि सिद्ध भगवानों को नमस्कार हो। 'श्री अरिहन्त भगवतों, आचार्यो, उपाध्यायों तथा साधुओं को नमस्कार इसलिए करते है कि पुण्यपुरुषों प्रत्यक्ष उपकारी हैं। पर श्री सिद्ध भगवन्तों के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है?

एक-एक भगवान श्री जिनेश्वर देव के शासन में जब असंख्य जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है, तो फिर हो कहना पडेगा कि भगवान श्री जिनेश्वर देव जगत के जीवों का ऐसा हित करते हैं, जैसा कोई अन्य जीव कर ही नहीं सकता। अतः इस रुप में 'सार्वीय' विशेषण मनवान श्री जिनेश्वर देवों पर पूर्णरुपसे घट सकता है।

"शुध्दि का राग और अशुध्दि का त्याग करे"

जो सर्व जीवों के लिए हित कर हो वही सच्चे प्रभु हैं। प्रभु वह नहीं कहे जाते। जो भक्तों का भला करे और अभक्तों का वुरा करें अथवा देवों का भला करे और दैत्यों का नाश करे। प्रभु केवल भला करता है किसीका भी वुरा नहीं करता। प्रभु तो तारने वाला ही होता है मारनेवाला नहीं होता। ऐसें प्रभु की सेवा करने वालेसे शुद्धि दूर नहीं रह सकती। ऐसे प्रभुके नामसे जिसका तन रोमांचिन हो जायें, नयन विकसित हो जाये और जिसे ऐसे प्रभु के गुणगान करने को ईच्छा हो वह व्यक्ति निश्चय ही एक दिन वीतराग वने विना नहीं रह सकता। प्रभु तो जगत के सभी जीवों के लिए हितकारी होता है। एक का भला और दूसरे का वुरा करने की भावना में तो राग और द्वेष है, पर अपने देव तो वीतराग है। वीतराग स्वयं किसी को कुछ नहीं देते, पर वीतराग की सेवा का भाव सुन्दर फल दे सकता है। इस अच्छे फल को और कोई नहीं

दे सकता। ऐसे वीतराग देवके चरणों में जो लेट जाय, अपने मन-वचन काया के योग से जो ऐसे भगवान के शरण में अपने को समर्पित कर दे, वह व्यक्ति अपनी अशुद्धि अवश्य दूर कर सकता है।

'हे प्रभु ! अनादि कालसे मैं राग द्वेष में फसा हूं पर अब मुझे भी वीतराग मिल गये हैं। आपका आलम्बन लेकर मुझे भी वीतराग बनना है। अतः आप मेरी रक्षा करें। भगवान आप मेरे शरणागत की रक्षा करें ऐसी प्रार्थना जिसके हृदय से निकले वह दुर्गतिकारक दुर्व्यसनों से अवश्य बच सकेगा और अन्त में मुक्ति प्राप्त करेगा। जो शुध्दि के प्रति रागी बने, अशुद्धि से जिसके मनमें चिढ हो और अशुद्धि को निकालने के लिए शुद्धि उत्पन्न करने का जिसका मन हो वह व्यक्ति इन उपकरणों के द्वारा ऐसा शुद्ध बन जाता है कि उसके ऊपर किसी प्रकार के राग का अंश मात्र भी नहीं रहता।

इसी लिए हमें श्री वीतराग के आलम्बन की आवश्यकता होती है। आप संसार के संगी हैं, पापके संगी हैं। और विषयों के रंगी है। आप साधु को वन्दना तो करते हैं। पर वह वन्दना आप क्यों करते हैं ? इसका एक मात्र कारण यह ही है कि, आप मात्र मुक्ति के इच्छुक हैं ? संसार में जो-जो चीजें आपको प्रिय हैं वे चीजें जो मुनियोंका नमन करते हो उन्होंने छोड़ दी है क्या तुम लोग भी उन चीजों को छोड़ना

चाहते तो हो मगर छोड़ नहीं सकते यह बात और है।

मुनि को नमस्कार करने में भावना विषय सुख के वमन की होती है, या उसे प्राप्त करने की ? भावना तो उसे वमन करने की ही होनी चाहिए। और इस भावनासे यदि नमन किया जाये तो ही नमस्कार का मूल्य है। त्याग के ही लिए त्यागियों को नमस्कार है। पुण्य शालियों को अर्थात् विवेक गुण प्राप्त पुण्यशालीयों को संसार में रहने की भावना एक क्षण के लिए भी नहीं होती। इसीलिए ही वे मुनियों को द्वादशावर्त वन्दन करते हैं।

परमाहर्त श्री कुमारपाल महाराज, परम उपकारी कलिकाल सर्वज्ञ-आचार्य भगवान श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज को सदा द्वादशावर्त वन्दन करते थे। अठारह देश का अधिपति त्यागी को वन्दना क्यों करे ? इसके पीछे कारण मात्र इतना है कि, त्याग के विना शुद्धि नहीं है। जब तक अशुद्धि के प्रति राग होता है, तब तक अशुद्धि रूपी डाकिन उसे खाती रहती है।

हिंसा-असत्य-चोरी-अब्रह्म और परिग्रह को यदि आप अच्छा मानतें होंगे तो आप इसे छोड नहीं सकेंगे और आप अशुद्धि से मुक्त नहीं हो सकेंगे। जब तक आदमी को अशुद्धि भली लगती हो-त्याज्य भी नहीं लगती हो, तब तक देव-गुरु धर्म अच्छे नहीं लगते। शुद्धि का रागी जीव ही सच्चे रूप में त्यागी को

आज मनुष्य की रक्षा के निमित्त-मानव जगत की उत्क्रान्ति के निमित्त, लाखों निरपराधी प्राणियों का संहार हो रहा है। तत्संबंधी कानुन बन रहे हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि, सच्ची परोपकारीता समझ में नहीं आई है। सच्चा अहिंसा-भाव नहीं आया है, मानव पर ही दया करना यह संकुचित वृत्ति है। और इसका परिणाम यह हुआ कि, बात आगे बढी और अन्य के प्रति दया के नाश की वृत्ति बढी। हिंसात्मक प्रवृत्ति हुई। और इसके फल स्वरूप मानव, विवेकी मानवँ नहीं रह गया, दानव भी बन गया।

"सुधर्म और कुधर्म"

विशाल वृत्तिसे समस्त प्राणियों की, रक्षा ही सच्चा धर्म है। सर्व प्राणियों का हित करने वाला ही सर्व का ईश गिना जाता है। दैत्यों और देवों का, मानवों और पशुओं का एवं सबल और निर्बल सर्व प्राणियों का जो ईश्वर हो, वही ईश्वर तारक गिना जाता है। जो किसी एक का ईश्वर हो वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर के उत्कृष्ट पुण्य की यह बलिहारी है कि, इन तारकों के प्रत्येक कल्याणकों पर क्षण भर के लिए दुःख सागर में डूबे हुए नारकियों को भी सुख का अनुभव होता है। उस समय उन्हें अनिर्वचनीय सुख का अनुभव होता है। प्रभु के जन्म दिवस से ही नहीं बल्कि प्रभु जब गर्भ में आते हैं, उस क्षण से ही जगत के जीवों का हित होता है और होता रहता है। प्रभु की प्रवृत्ति

के लिए वह स्वयं हर जीव को शरण करेगा और जीवहिंसा से बचने का उपदेश देगा। इसीलिए सभी आस्तिक दर्शनकारोंने अहिंसा को प्रधान पद दिया है। पर इनके जीवन में अथवा इनके द्वारा प्रस्तुत विवेचन में उतरे तो यह बात समझ में आ जाता है, कि इन्होंने अपनी अहिंसा की बात को अपने वर्तन और अपने विवेचन के द्वारा कलंकित किया है। अहिंसा को मानने वाला यज्ञादि में जीव हिंसा का विधान नहीं करता। अहिंसा का मानने वाला वनस्पति आदि के जीवों को खाने की सलाह नहीं देता। दानवों के मारने की भी बात नहीं करता।

अहिंसा के पालन के लिए जीव कहाँ कहाँ है और इन जीवों का रक्षण किस प्रकार सम्भव है, इसे पूरा-पूरा और सही-सही जानना चाहिए। इसे या तो सर्वज्ञ जान सकते है अथवा सर्वज्ञ कथित शास्त्र को प्रमाण रुप में स्वीकार करने वाला कह सकता है।

ऐसे भी जीव होते है जिनको एक तृतीयांश अधिक सत्तर भव पल मात्र में होते है। ऐसे शरीर वाले भी जीव होते है, जिन्हे व्यक्ति आंखो से नहीं देख सकता। सांये की अणी के अग्रभाग में अनंत जीव रह सके यह भी शक्य है। अनंतज्ञानीओं के अतिरिक्त और कौन इन सबको स्वतंत्र रुप से जान सकता है?

भगवान श्री जिनेश्वरदेवने तो इन जीवों की भी हिंसा न करने का उपदेश किया है। अतः दानवों के मारने में, पशुओं के होममें तथा वनस्पति आदि भक्षण करने में धर्म मानने वाले अहिंसा धर्म के उपदेशक ही नहीं है।

भगवान श्री जिनेश्वर देवने तो जैसा कहा है वैसा ही उन्होंने पालन करके वता दिया हैं। भगवानने लक्ष्मी को, राज्य वैभव की तथा काया की उपेक्षा करके सयंम रखा। सयंम में छह जीव निकायों की रक्षा है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन समस्त निकायों के भगवान रक्षक वनें। और इस प्रकार भगवानने उच्चतम चारित्र पाला इसीलिए अन्त में अयोगी होकर मोक्ष गये। पहले भगवानने जीव मात्र को दुःख न हो ऐसा आचरण किया और फिर " उपदेश किया कि:– "सव्वे जीवा न हंतव्वा।"

"निमित्त और समवायी कारण:-"

'किसी को मारना न चाहिए।' सिध्धान्त से किसी को भी दुःख न देना चाहिए तथा किसी को शत्रु भी न मानना चाहिए! यह भी सिध्ध हो जाता है। समस्त जीवगण अपना कुटुम्ब है! क्या कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति को कुटुम्बका कोई दूसरा व्यक्ति मारता है? या दुःख देता है? कुटुंवका व्यक्ति तो अपने कुटुंव के अन्य व्यक्ति के हित का ही ध्यान रखता है। फिर

किसी भी जीव को मारने की अथवा दुःख देने की प्रेरणा भला कौन करे ? कषाय किस कारण कषाय होते है ? विषय सुख की लालसा से और कर्म के योग से, यदि कर्म न हो तो विषय लालसा न होगी और फिर कषाय भी न होगा। इसलिए व्यक्ति को तो कर्म के हनन करने के लिए ही प्रयत्नशील बनना चाहिए। सब जीव जब अपने ही कुटुंब-सभ्य के है तब उन्हें फिर शत्रु किस प्रकार माने जा सकते है ? क्लेशी की सद्गति नहीं है। सब जीवों को कुटुंब मानने पर ही आप 'सार्वीय' विशेषण से युक्त भगवान के अनुयायी होंगे। प्रभु के स्तवना करते समय यह भावना होती है कि, 'सभी मेरे मित्र है। शत्रु कोई नहीं है'। किसी को भी शत्रु रूप में कैसे माना जा सकता है ? यह तो तभी सम्भव है कि, जब हम किसी भी जीव को अपना अहित करने वाला न मानें। जब मनुष्य में यह कल्पना होती है कि, अमुक मेरा अहित चाहने वाला या करने वाला है, तभी ही शत्रुता की भावना मन में उत्पन्न होती है।

पर आदमी यह बात समज नहीं पाता कि, आपका कोई शत्रु है तो दर असल वह शत्रु व्यक्ति स्वयं ही है। यदि आप स्वयं अपना शत्रु न बने तो जगत में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो आपका कुछ बिगाड शके। निमित्त और समवायी कारणको जानो। कर्म समवायी है और अन्य सभी अवस्थाएँ निमित्त है। समवायी कारण के अभाव में चाहे हजारो दण्ड एकत्र हो, हजारो जानव एकत्र हो, पर उतने मात्र से घट की या पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती। लाखों निमित्त कारण होने पर भी यदि एक समवायी

कारण न हो तो एक भी निमित्त एक भी कार्य नहीं कर सकता।

इसी से आप समज लें कि, केवली भगवन्त चाहे जिस स्थान में हो पर हर स्थान में वह शुक्ल लेश्या में ही होते है। कषायें, शत्रु-भावना उत्पन्न करने में चाहे जिस रुपमें निमित्त हो पर समवायी तो कर्म ही होता है। कषाय से ही शत्रु भावना उत्पन्न होती है। व्यक्ति को यदि इसका सही रूप में भान हो जाये तो रोष आने के बजाय व्यक्ति को रोष पर ही रोष आने लगे। और इससे कर्म ही शेष हो जाय। दुःख उत्पन्न होनेपर ही दुःख भोगने का अवसर आ सकता है। पर रोग होता क्यों है? वैद्यकशास्त्र में कहा गया है। "रस मूला ही व्याध्यः" रस ही व्याधि का मूल है। जितना रस कम होगा, उतना ही रोग कम होगा। अपने को तो इसी आधार पर आगे बढना है। रस तो रोगोत्पत्ति का निमित्ति कारण बना। पर उसका मूल कारण क्या है? पहला यह कि, उसी प्रकार का कर्म उपार्जित किया था और वह उदय में आया इसलिए रस के निमित्त से रोगी हुए। वैद्य लोग शारिरीक दृष्टि से मूल कारण देखतें है। वे कहते है कि, यदि सुख की आकांक्षा हो तो रस पर काबु प्राप्त करना चाहिए। चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से व्याधिका कारण रस है–रसास्वाद

जा सकते है ?' पर ऐसा मानने वाले मूर्ख है और ऐसा मानना उनका अज्ञान है। वे रहस्य को समज नहीं सके हैं।

जिसे आप शत्रु कहते हैं वह तो आपकी ही कल्पना का शत्रु है। सच्चा शत्रु तो आत्मा के साथ ही स्थान जमा कर बैठा है। मन द्वारा पैदा किये गये शत्रु ही बाहर के शत्रु है। मूल शत्रु तो कर्म है। यदि कर्म न हो तो बाहर का कोई शत्रु बने ही नहीं। सिध्धों का कोई भी शत्रु नहीं है। लोक 'नमः सिद्धेभ्यः' का जप जपते हैं। पर ऐसा कोई भी मूर्ख नहीं है जिसके मन में सिद्धों के लोप करने की बात उठती हो।

श्री वीतराग दर्शन में शत्रुओं के मारने की बात भी अवश्य है। 'नमो अरिहंताणं' कह कर सबसे प्रथम नमस्कार शत्रुओं के हनन करने वाले और शत्रुओं के हनन करने का मार्ग बताने वालें भगवान को किया जाता है। शत्रुओं को हनन कर डाले बिना-जड मूल से उन्हें उखाड फेंके बिना जीव कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार शत्रुओं को हनन करने की मनाई नहीं है, पर इस बात के लिए तो पुरा-पुरा आग्रह है कि, मारने से पहले शत्रु का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त कर ले।

राग और द्वेष, कर्म रूप शत्रु को उत्पन्न करते हैं। वीतराग बने हुअे को चार अघाती कर्मों का योग होने पर भी राग-द्वेष पैदा

नहीं होते। फिर जिस में कर्म का योग बिलकुल ही नहीं होता उनमें राग-द्वेष पैदा ही कैसे होगा? इस प्रकार यदि कोई निश्चित् रूप से शत्रु है तो वे कर्म ही है।

'कर्म ही शत्रु है' का सिद्धान्त यदि सांगोपाङ्ग जीवन में आ जाये तो जीवन पूजन-योग्य बन जाय। किसी भी जीव को न मारे उनकी रक्षा करे, पर कर्मों का तो हनन करना ही है। अतः कर्मों के हनन के लिए ही प्रयत्नशील बनें। जब तक कर्म पुरी तरह नष्ट नहीं होगा, तब तक संसार बना रहेगा।

समस्त श्री जिनेश्वर देवो ने कहा है। 'किसी भी जीव को न मारे!' ऐसा कहने मात्र से यह भाव आ गया कि किसी भी जीवको शत्रु न माने। यदि यह भाव मनुष्य में आ जाये तो, किसी भी जीव के प्रति वैर-भाव न रहे। मारता तो अपने कर्म को ही है। पर उसके स्थान पर आप तो जीवों का हनन करते हो और इस रूप से आप जन्म मरण के शरण में गमन करते हो।

सच्चा जैन हार्दिक शत्रुता कर्म के साथ और उनके कारण-रूप काम-क्रोधादि के साथ ही रखता है। किसी जीव के प्रति शत्रुता नहीं रखने वाला और श्री जिन की आज्ञा में सच्ची श्रद्धा रखने वाला ही सच्चा जैन हो सकता है।

शत्रुओं के हनन करने के सम्बन्ध में आप सिह सरीखे बनें अर्थात् सिहवृत्ति ग्रहण करें। सिह को यदि कोई गोली पत्थर या वाण मारे तो, सिह गोली पत्थर या वाणको नहीं देखता। वह तो यह देखता है कि गोली पत्थर या वाण मारने वाला कौन है ? वह उस पर दृष्टि डालकर उछलता है। सिह भी पशु है, और कुत्ता भी पशु है। पर इन दोनों की रीति भिन्न है। कुत्ते को किसी चीज से मारा जाता है-तव वह उस चीज की ओर दौडता है। कुत्ता मारी जाने वाली चीज पर ही गिरता है। सिह वृत्ति और श्वान वृत्ति में यह ही अन्तर है ?

कोई आपको गाली दे, कोई आपका अपमान करे या कोई आपकी वस्तू लूंट लें उस समय आपको क्या विचार करना चाहिए ? आप को ध्यान तो इस ओर देना चाहिए कि मेरा इस प्रकार का कर्मोदय हुआ है। मेरे कर्म के उदय से ही अनिष्ट का योग आया है। उस योग की प्राप्ति मे निमित्त कुछ आवश्य वना, पर तदरुप कर्म के विना उस प्रकार का उदय सम्भव नहीं है, अतः यह समज कर उस प्रसंग के अवसर पर शांत रहे सामने वाला चाहे जितना गर्म क्यों न हो, नरम हो कर ठण्डा पड जायेगा।

आप नरम तो सारा जगत नरम, और आप नरम तो सारा जगत गरम। कहावत आपने सुनी होगी कि 'आप भला तो जग भला।' यहां वात तो यह है कि, सामने वाला आग हो तो आप पानी वन जायें।

अमुक से ऐसा व्यवहार करना है और अमुक से वैसा! ऐसा विचार करके किसी के भी प्रति वैर-भाव उत्पन्न न करना चाहिए। किसी भी जीव के प्रति वैर-विरोध की भावना दूषित भावना है। इस दुष्ट भावना को दूर करें। श्री महावीर परमात्मा का शासन प्राप्त करके किसी भी जीव के प्रति वैर-भाव नहीं करना चाहिए। नये विरोध को पैदा न होने देना चाहिए और पुराने विरोधको टाल देना चाहिए।

यहाँ कोई यह पूछ रहा है-'मिथ्यादृष्टियों के साथ वैर भाव ठीक है या नहीं? शासन के विरोधीयों के प्रति वैर भाव करना चाहिए या नहीं? प्रभु के उपदेश के विरुद्ध प्रचार करने वाले के प्रति वैर विरोध भाव करना चाहिए या नहीं?'

इसके उत्तर में मुझे कहना है कि विरोध भाव तो ठीक है, पर वैर भाव न करना चाहिए। भावना यह होनी चाहिए कि, इन जीवों का भी कल्याण हो। ये जीव उन्मार्ग को तजकर सन्मार्ग प्राप्त करे और कल्याण साधे। यही अपनी अभिलाषा होनी चाहिए।

इनके मिथ्यात्व के प्रचार से शासन को नुकसान पहुँचाने वाले कार्य में एवं उत्सूत्र प्ररूपणा आदि में किञ्चित् मात्र पुष्टि न मिलने पाये इस दिशा में अपने को सतर्क रहना चाहिए। अपना बस चले तो इन को स्व-पर के हित की घातक चर्या करने

में असमर्थ बना देना चाहिए। यथा शक्ति और यथा सामग्री उन्हें उस प्रकार के कामसे रोकना चाहिए और इस दृष्टि से उग्र से उग्र विरोध करे कि, उस व्यक्ति के कारण अन्य जीवों को तथा प्रभु के शासन के सिद्धान्तों को हानि न पहुँचे इतना होने पर भी इन जीवों के प्रति भी अपने हृदय में वैर भाव उत्पन्न न होने दे। किसी भी जीव द्वारा यदि अपना कुछ नुकसान हो तो उस में अपने कर्म का उदय लक्ष्य में रखना चाहिए और हृदय में वैर भाव न आने देना चाहिए। इस व्यक्ति ने हानि पहुँचाई ऐसा मूर्खता पूर्ण विचार तो आने ही नहीं देना चाहिए। बल्की सहन कर लेना चाहिए और उसके हित की चिन्ता के रूप में उसके प्रति मैत्री भाव बनायें रखना चाहिए। उसे क्षमा कर देना चाहिए और उसके हितकी चिन्ता के रूप में उसके प्रति मैत्री भाव बनाये रखना चाहिए। अपने अपकार में अनेक वार निमित्त बनने वाले और अपना बुरा चाहने वाले पर भी यदि उपकार करने का अवसर आये तो उसका उपकार किये विना न रहना चाहिए। 'सार्वीय' प्रभु को प्राप्त करने पर अपने को ऐसी मनोदशा रखनी चाहिए।

" इस लोक के ओर आत्मा के लाल की प्राप्ति के सबंन्ध में एक उदाहरण "

उपकारी के उपर उपकार करने के लिए हृदय में वडी विशालता चाहिए। किसी पर उपकार करना उँची वात है।

गाँव भर में उसकी इतनी प्रशंसा हो रही थी पर इस श्रीमंत पुत्र को आनंद नहीं मिल रहा था। उसे तो बस इतनी चिन्ता थी कि बात कब पिताश्री के कान में पहुँचे और कब पिताश्री बुलाकर वह रत्न मुझे दे ! वह इस बात की ही जाँच किया करता कि, उसके पिताश्री के कान में बात पहुँची या नहीं ?

उसने अनेक व्यक्तियों से यह जान लिया कि पिताश्री बात जान चुके हैं । अब उसके मन में यह चिन्ता व्याप्त हो गई कि पिताश्री आखिर अभी तक बुलाते क्यों नहीं हैं ? सम्भव है कि वह लाल की बात भूल गये हों ? अथवा ऐसा हो सकता है कि पूरी-पूरी बात उनके कान तक न गयी हो ।

यदि उस श्रीमंत पुत्रने भलाई करने की दृष्टि से भलाई की होती तो उसकी यह दशा न होती । वह चिन्ता का शिकार न बन जाता, उसे परोपकार का आनन्द होता । पर यह आनन्द तो उस व्यक्ति को मिलता है, जो भलाई का काम भलाई की भावना से करे और जिसमें पुरस्कार पाने की किंचित् ईच्छा ही न हो । पर इस श्रीमंत पुत्रने तो लोभवश यह कार्य किया था । पैसे का लोभ आदमी से क्या नहीं करा सकता ? कोमल काया वाला आदमी भी पैसे के लोभ में क्या करने को तैयार नहीं हो जाता ! वह बड़े से भी बड़ा श्रम साध्य कार्य भी कर डालता है और अनेक खतरे भी बर्दाश्त करता है । अच्छी सम्पत्ति

होने पर भी यदि व्यक्ति में लोभ का प्राबल्य हो तो व्यक्ति सोचता है कि चाहे "मेरी चमड़ी चली जाये पर दमड़ी (पैसा) जाने न पाये।" यह श्रीमंत पुत्र भी ऐसा ही था।

एक–दो–दिन और बीत गये, पर जब सेठने अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाया नहीं तब वह स्वयं ही पिता के पास गया। सेठ बहुत ही समझदार और अनुभवी व्यक्ति था। वह समझ गया कि, ज्येष्ठ पुत्र किस लिए आया है। अतः सेठने स्वयं तो कोई बात नहीं चलायी। सेठ का लड़का बातें करता और बराबर प्रतीक्षा करता कि, पिताजी कब वह बात करे। पर जब पिताजी ने उस संबन्ध में बात ही शुरु न की तो उसने स्वयं कहना शुरु किया। पिताजी आपने यह तो सुना होगा की, गरीब का वह लड़का उस दिन तालाब में डूबते–डूबते बचा।

सेठ ने बात आगे बढ़ने से रोक दी और कहा, "यह बात तो मैं परसों ही सुन चुका हूँ कि, तुमने उसे डूबने से बचा लिया। हिन्दु का लडका यदि तैरना जानता हो और वह डूबते व्यक्ति को न बचाये यह तो सम्भव ही नहीं है।"

वह लड़का तो लाल प्राप्त करने की लालच में था। उसने फिर कहा, पिताजी! आप मेरे इस कार्य से प्रसन्न तो हुये न? आप यदि प्रसन्न हुये तो मेरा सारा कार्य सफल हो गया।"

सेठ बोले–'क्या तुमने उस लड़के को मुझे प्रसन्न करने की दृष्टि से बचाया? क्या मुझे प्रसन्न न करना होता तो उसे न

विचार करने के कारण अज्ञानी व्यक्ति सुकृत के उत्तम फल को नष्ट कर देते हैं।

अब लालकी प्राप्ति के लिए सेठ के उस दूसरे पुत्रने क्या किया? सेठ के दूसरे पुत्रने भी सारी बातें सुन ली थी। अब उस के मन में विचार हुआ कि, काम ऐसा करना चाहिए कि, लालची भी न ठहराया जाऊं और पिताजी भी प्रसन्न हो जायें। तत्काल तो उसे कोई काम न सुझा और वह ऐसे काम की राह देखने लगा।

बाजार में उसकी बड़ी दुकान थी। वह थोक मालका व्यापार करता था। बहुत से आढ़तिये वहाँ आते, ठहरते और बड़ी रकमों की लेन-देन चलती रहती इस में एक बार ऐसा हुआ कि, एक आढ़तिया अपना हिसाब करते–करते २५ हजार रुपये की बड़ी रकम उसकी दुकान में भूल गया और अपना काम समाप्त करके वह अपने गांव चला गया। सेठ के दूसरे लड़के ने यह रकम देखी और उसने उस रकम को उठाकर अपनी तिजोरी में अलग रख दी।

कितने ही दिन बीत गये, पर कोई यह कहने नहीं आया कि, वह रुपया भूल गया था। जो आढ़तिया यह रकम भूल गया था, घर पहुँचकर वह हिसाब किताब करते समय

तब उसे उस रकम की भूल मालूम हुई। पर उसे यह बात स्मरण में नहीं आई कि, वह रुपये कहाँ भूल गया था? कुछ स्मरण न आने से उसने मान लिया कि, रकम कहीं रास्ते में ही गिर गयी होगी।

थोड़े दिन बाद सेठ के दूसरे लड़के ने सोचा कि, पेटी में पड़ी हुई दूसरे की रकम का क्या किया जाय? उसे हजम कर जाये या जिसकी रकम है, उसे वापस लौटा दे। पर इतनी बड़ी रकम कि जिस के सम्बन्ध में कोई भी कुछ न जानता हो, उसको वापस करना मूर्खता होगीः उसी समय उसे विचार आया कि, प्रामाणिक रूपसे प्रसिद्ध होने का और पिताजी को प्रसन्न करने का यह बड़ा अच्छा मौका है। २५ हजार रुपया तो जायेगा, मगर लाखों के मूल्यवाला लाल हाथ में आ जायेगा। यह बहुत ही उत्तम अवसर है। एक पन्थ और दो काज होगा।

अतः वह तुरंत ही मुनिमजी के पास गया और बोला कि आढ़तिया को पत्र लिख दे कि, आप २५ हजार रुपया हमारी पेढी पर भूल गये हैं। उसे देखते ही मैंने उस रकम को तिजोरी में अलग रख दिया है। इतने दिनों तक माना कि शायद आप पूछताछ करेंगे, पर आप नहीं आये। अतः यह पत्र पाते ही आप तुरंत आयें और अपना रुपया ले जायें।

सेठ सयाना व्यक्ति था। वह इतना चतुर था कि, देखते ही आदमी का रुख पहचान जाता था। वह तुरंत ही समझ गया कि, यह लड़का लाल की लालच से आया है। उसे देखकर सेठ कुछ भी नहीं बोला पर सेठ के लड़के ने आते ही कहा! 'पिताजी आपने सुना नहीं?' सेठ ने उत्तर दिया–हाँ मैंने विस्तारपूर्वक बात सुन रखी है। साहूकार यदि साहूकारी प्रदर्शित करे तो आश्चर्य क्या? साहूकार को बाजार में ऐसी ही साहूकारी का व्यवहार करना चाहिए। तुमने जो दस रुपये को कुछ दिनों तक अपने पास रखा मुझे तो यह बात भी अच्छी नहीं लगी। उसे बुलाकर तुमने रुपया वापस कर दिया यह बहुत ही अच्छा किया और यदि तुम यह मानते हो कि, तुमने कोई विशिष्ट काम किया तो जिसका रुपया था उसे ही लौटा देने में कोई विशिष्टता नहीं है। लोग तो प्रशंसा ही करेंगे। पर बात तो स्वयं हमें समझना है कि, यदि दूसरे की अनीति की एक पाई भी दबा लें तो इससे हमारी साहूकारी को बट्टा लगेगा।"

सेठ के इस जवाब को सुनकर लाल की बात करने की गुंजाइश ही न रही। दूसरा भाई भी बड़े भाई की तरह लाल प्राप्ति की आशा छोड़कर वापस लौटा। मार्ग में वह विचार करने लगा। सब दोष नसीब का ही है। इसलिए [illegible] रुपया भी हाथ से गया और लाल भी न मिला।

उसे बोलकर संसार सम्बन्धी, मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों का त्याग करता है। ठीक बात तो यह है कि, श्री जिनमंदिर जानेके लिए जब घरसे ही पैर आगे बढ़े उसी समय हृदय में से संसार सम्बन्धी भावनाओं को त्याग देना चाहिए और हृदय में केवल श्री वीतराग परमात्मा के स्वरूप को ही स्थापित कर लेना चाहिए श्री जिनमंदिर में प्रवेश करते ही निसीही कह कर व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि, मैं अब संसार सम्बन्धी विचारणा का त्याग करता हूं। श्री जिनमंदिर में प्रवेश करके श्री जिनमंदिर सम्बन्धी ही चिन्ता करनी चाहिए। परिक्रमा करते समय यदि कहीं अशुद्धि का ज्ञान हो तो उसे दूर करना चाहिए। श्री जिनमंदिर में यदि 'अशातना का कारण' कूड़ा कहीं नजर आ जाये तो उसे साफ कर देना चाहिए।

इस प्रकार श्री जिनमंदिर सम्बन्धी चिन्ता करने के बाद इस चिन्ता का भी अब मैं त्याग करता हूं। इस प्रतिज्ञा के लिए दूसरी बार निसीही बोलना चाहिए। दूसरी बार निसीही इस प्रकार बोला जाता है। दूसरी बार निसीही रूप प्रतिज्ञा करने के पश्चात् द्रव्य पूजा आदि क्रिया करनी चाहिए। भगवान श्री जिनेश्वर देव का उत्तम तथा मनोहर जल, चंदन, केसर आदि से अष्ट प्रकारी पूजा करने के बाद भाव-पूजन करने के लिए द्रव्य-पूजन का त्याग करना चाहिए और इसलिए अब तीसरी बार निसीही बोलना चाहिए। तीसरी बार निसीही बोलकर यह प्रतिज्ञा की जाती है कि, अब मैं द्रव्य पूजाका त्याग करता हूं। भाव पूजा तक पहुंचने के लिये, संसार सम्बन्धी

शराबी जब कुछ होश में आया तो अपने पूर्व निर्णय के अनुसार मंदिर में दर्शन करने चला गया। आज उसे भगवान के दर्शन करने में बड़ा आनन्द आया। भगवान की प्रार्थना करते हुए उसने जीवन में पवित्रता की याचना की।

ज्यों ही वह सेठ का पुत्र मन्दिर से बाहर निकला वह शराबी उसके पैरों पर गिर पड़ा और बोला—'मेरे भगवान तुम्हीं हो। आज आपने मुझे नया जीवन प्रदान किया है। आपने कितना जोखिम उठाकर मेरे जीवन की रक्षा की और किस प्रकार सेवा-शुश्रूषा भी की, यह सब मैंने इन लोगों के मुख से सुन लिया है। मुझ पर उपकार करके भी तुम्हें इस की अपेक्षा नहीं थी कि मैं आभार प्रदर्शन करूँ। मैं जितना नीच हूं, आप उतने ही श्रेष्ठ हैं। आज से मैं कभी शराब न पीऊंगा। मुझे भी भगवान का दर्शन करा दें।'

कितनी ही जिन्दगियां बीत जाये, तो भी उन महापुरुषों के गुणों का सम्पूर्ण वर्णन किसी से भी हो ही नहीं सकता, फिर हम जैसे किंचित् मात्र शक्ति वाले तो क्या वर्णन कर सकेंगे? हमने तो बहुत ही संक्षिप्त में वर्णन किया है। यों तो हम केवल कुछ मिनटों में भी इस जिनस्तुति का अर्थ कर सकते हैं, किन्तु उससे तुम्हें जो साधारण जानकारी मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल सकती। यह तो तुम्हें इस तरह सूचित कर दिया है-आगे हो सके उतना संक्षिप्त में कहने की सावधानी रखी जायगी। अभी तो मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में टीकाकार आचार्य भगवान ने, जिन पंद्रह विशेषणों से भगवान श्री जिनेश्वर देवों की स्तुति की है, उन में से छः विशेषणों के बारे में सोचा जा चुका है और अब सातवें विशेषण 'अस्मर' के विषय में विचार प्रारंभ करते हैं।

काम के कारण से रहित:

जिन में स्मर का अभाव हो वह अस्मर! 'नास्ति स्मरो यस्य, सोऽस्मरः'। स्मर यानि काम। जिन में काम का नाम मात्र भी नहीं, वे अस्मर कहे जाते हैं। भगवान ने काम को जीता-इतना ही नहीं, बल्कि भगवान ने तो काम के कारण तक को सदा-सर्वदा के लिये भगा दिया है। काम का कारण विद्यमान हो। फिर भी काम को हावी न होने दे और हावी होने

लगे तो उसे परास्त कर दें-यह अलग है, मगर काम कभी भी उत्पन्न ही न हो सके, ऐसी अवस्था प्राप्त करना एकदम दूसरी बात है। भगवान श्री जिनेश्वर देव निर्वेदावस्था को प्राप्त हुए होते हैं। वेद के उदय का नाम ही काम है। पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसंकवेद- ये तीन प्रकार वेदोदय के हैं। वेद का कारण, उस प्रकार का कर्म है। भगवान जब अपने केवल ज्ञान रूपी गुणों को प्रकट करने के लिए, क्षपक श्रेणी का आरंभ करते हैं, तब क्रमानुसार घाती कर्मो का नाश करते जाते हैं और इसके अन्तर्गत वे तारक नवें गुणस्थानक में वेद के कारणरूप कर्म प्रकृति का भी जड़मूल से नाश कर देते हैं। इस प्रकार निर्वेद-वस्था की प्राप्ति के बाद ही ये महाभाग क्रमशः बारहवें गुणस्थानक में वीतरागावस्था की प्राप्ति के बाद केवलज्ञान प्राप्त कर, तेरहवें गुणस्थानक में आ पहुंचते हैं।

महादेव ने काम को भस्म किया या काम ने महादेव को भस्म किया ?

प्रश्न : महादेव ने भी काम को भस्म कर दिया था न ?

प्रथम तो-काम क्या है ? यह जान लें। वेदोदय के योग से उत्पन्न होने वाली कामना विशेष को काम कहते हैं। वेदोदय के योग से पुरुष-स्त्री के भोग की इच्छा करता है और

[illegible] भोग है [illegible] और [illegible]
लेकिन [illegible] का भोग। [illegible]
भोग के लिए, [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible]
का उपयोग भी होता है। [illegible]
अभिलाषा में [illegible] है। [illegible] को कामसुख
भी कहा जाता है। अब सोचिये कि–[illegible] जला सकने
जैसी वस्तु है ? हरगिज नहीं।

फिर भी पुराणों में कहा जाता है उस प्रकार यदि काम नामक व्यक्ति का अस्तित्व था इसे और काम नामक व्यक्ति को महादेवने भस्म कर दिया था–इसे मान लिया जाये तो, संसार में से काम का अस्तित्व मिट गया, ऐसा ही मानना पड़ेगा न? मगर क्या सचमुच ही संसार में से काम का अस्तित्व मिट गया है ? वर्तमान जगत के प्राणियों में काम है या उसका अभाव ? सच यह है कि-संसार के प्राणियों में अधिकांश तौर पर काम का ही साम्राज्य व्याप्त है। संसार के जीव काम की पीड़ा से पीड़ित हैं। कामसुख की लालसा में अंधा जगत् कितनी मजदूरी कर रहा है, किस प्रकार गुलाम बना हुआ है और

कितने अत्याचार सह रहा है, क्या यह भी कहने की आवश्यकता है ? काम यदि शरीर धारी होता और महादेव ने उसे भस्म कर दिया होता तो, आज मानव और पशु-पक्षी, जिस काम की भयानक पीड़ा से पीड़ित हैं, उसका आज नाम निशान भी न होता ।

पुराणों में तो ऐसा भी आता है कि—महादेव और पार्वती का पति-पत्नी का संबंध था । एक बार पार्वती ने माया से एक भील औरत का रूप लिया और महादेव ने उसे भील औरत के रूप में देखा । महादेव उस भील औरत का रूप देखकर मोहित हो गये । पार्वती ने महादेव की परीक्षा कर ली । पार्वती ने सोचा, कि-'ये कैसे पति हैं ?' पुराणों में ऐसी तो कितनी ही बातें हैं । उस औरत के रूप पर मोहित होने वाले महादेव, उस काम को कैसे भस्म करे ? महादेव ने काम को भस्म नहीं किया बल्कि-काम ने महादेव को भस्म किया, यही कहना चाहिए न ?

सच्चे महादेव कौन ?

महादेव ने काम को भस्म किया है, इसका मतलब यह करें कि, उन्होंने अपने दिल से उस का स्थान निकाल दिया । लेकिन यह बात भी कुछ जमती नहीं है । महादेव यानि महादेव के रूप में जो विख्यात हैं, उनके विषय में न सोचकर, महादेव यानि 'रागादयः क्षयमुपगता यस्य, महादेवः स उच्यते ।' ऐसी

तो वह किसी मजबूरी के कारण ही और यदि मनोदशा इसके विपरीत हो तो वह आत्मा शुद्धिवेकी नहीं कहलायेगी।

प्रश्न : नंदिषेण बारह वर्षों तक वेश्या के यहां रहे और वेश्या के साथ उन्होंने संभोग किया। क्या वह भी अपने चारित्र मोह कर्म के क्षीण के लिए ही किया ?

अवश्य हम यह कह सकते हैं कि, वह पतित हुए, चरित्र भ्रष्ट हुए क्योंकि उन्होंने दीक्षा लेते वक्त जो प्रतिज्ञा की, उसका भंग हुआ ही न ? प्रत्येक दीक्षार्थी को दीक्षा ग्रहण करते समय पांच महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है। नंदिषेण ने भी दीक्षा ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ली थी। चाहे जैसे अच्छे हेतु से ही सही, उन्होंने गृहवास का स्वीकार किया हो, फिर भी दीक्षा के समय जो प्रतिज्ञा ली थी, उसका तो पतन हुआ ही और इसी कारण कहा जा सकता है कि वे चारित्रभ्रष्ट हुए। 'पतित हुए और चारित्रभ्रष्ट हुए,' ऐसा वस्तुस्वरूप के वर्णन के लिए कहा जा सकता है पर पतित और चारित्रभ्रष्ट कहकर उनकी निन्दा कभी नहीं की जा सकती। ऐसी निन्दा करने वाला या तिरस्कार करने वाला पाप का ही भागी होता है। वे गिरे नहीं, उनको गिरना पड़ा। वे गिरे तो उस प्रकार के कर्म के योग से गिरे 'किन्तु काम ने उनको नहीं गिराया।' काम के आधीन होने से पहले वे मौत को गले लगाने के लिए भी तैयार थे-पर उनका चारित्रमोह कर्म इतना जबरदस्त था, कि-यदि उस कर्म को क्षीण करना ही हो तो उस कर्म के क्षीण करने के लिए भी उनके भोग-भोगे बिना अन्य कोई चारा नहीं था।

प्रश्न : नंदिषेण गिरे किन्तु, ऊंचा उठने के लिए गिरे, यही तो कहना पड़ेगा ?

यदि ऐसा कहें तो भी बुरा नहीं, कारण कि उन्होंने थककर ही गृहवास अंगीकार किया था और भोगों का उपभोग करते हुए भी दिल में तो त्याग की ही भावना थी। अन्यथा वे वेश्या के घर में रहते हुए भी, प्रतिदिन दस आदमियों को उपदेश देकर, दीक्षा के लिए भेजना और अन्त में खुद ही वेश्या का त्याग कर निकल पड़ना, इत्यादि बातें सर्वथा असंभव थी।

प्रश्नकार : श्री नंदिषेण के प्रसंग का यदि आप वर्णन करें तो इससे बहुत ही जानने को मिलेगा।

तुम सबकी इच्छा हो तो, वर्णन करने में मुझे कोई हर्ज नहीं। समय लगेगा यही। श्री नंदिषेण राजकुमार थे। उनके पिता थे श्रेणिक राजा।

श्री श्रेणिक कौन थे? श्री श्रेणिक वर्तमान शासन के नायक भगवान श्री महावीर परमात्मा के परमभक्तों में से एक थे और क्षायिक सम्यक्त्व के स्वामी थे। जिस प्रकार श्रीकृष्ण महाराजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हुए भी घोर अविरति के उदय वाले थे, उसी प्रकार श्री श्रेणिक महाराजा भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हुए भी घोर अविरति के उदय वाले थे। उन दोनों के अपने-अपने चारित्रमोह कर्म का इतना जबरदस्त उदय हुआ था कि-किसी भी प्रकार वे आत्माएँ विरति को पा ही नहीं सकती थी। लेकिन उनका मिथ्यात्व मोहकर्म क्षीण हो

या, इस से यदि उनके अन्तःकरण को टटोला जाय तो, यही मालूम होगा कि–इन पुण्यात्माओं को रत्नत्रयी के अतिरिक्त कोई भी उपादेय नहीं लगता ।

एक बार भगवान श्री महावीर परमात्मा राजगृही नगरी के उद्यान में पधारे। भगवान को राजगृही के उद्यान में पधारे जानकर, राजकुमार श्री नंदिषेण भगवान की सेवा में उपस्थित हुए।

भगवान राजगृही नगरी के उद्यान में पधारे, उससे कुछ ही समय पूर्व ऐसी घटना घटी कि–सेनचक नामक हाथी, जो किसी के भी काबू में नहीं आ रहा था, श्री श्रेणिक महाराज ने अपनी सेना के साथ, वन में जाकर छल–कपट तथा बल से काबू में करने की कोशिश की थी, मगर वह हाथी उनके वश में नहीं हुआ था, वही हाथी राजकुमार श्री नंदिषेण को देखते ही काबू में आ गया, स्नेहवश हो गया। इस से राजकुमार श्री नंदिषेण को लगा कि–'इस में अवश्य ही कोई गूढ़ रहस्य होना चाहिए।'

अतः जब वे भगवान श्री महावीर परमात्मा के पास गये तब, भगवान की धर्मोपदेशना श्रवण करने के पश्चात्, हाथी की आश्चर्यकारक घटना के विषय में, राजकुमार नंदिषेण ने भगवान से पूछा। प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान ने श्री नंदिषेण से, उनका हाथी से पूर्वभव के संबंध में बताया। साथ ही

भगवानने यह भी कहा कि—'पूर्वजन्म में तू ने साधुओं को दानादि देकर, जिस विपुल पुण्य का उपार्जन किया, उसके फलस्वरूप ही तू यहां राजपुत्र के रूप में जन्मा है।'

जहां यह बात पूर्ण हुई कि, राजा श्रेणिक वगैरह भी प्रभु के पास आ पहुँचे। उन्होंने भी भगवान के श्रीमुख से धर्म देशना श्रवण की। भगवान के श्रीमुख से धर्मदेशना के श्रवण के योग से राजपुत्र श्री नंदिषेण को बोध हुआ और बोधित नंदिषेण ने शीघ्र ही स्वयं को संयमी बनाने की विनती की। राजकुमार नंदिषेण द्वारा संयम की विनती सुनकर भगवान ने फरमाया कि—'वत्स! तेरा चारित्रमोह कर्म अभी बहुत बलवान है। तेरा अभी ऐसा भोगफल कर्म है कि जिसके कारण तुझे भोग-भोगने ही पड़ेंगे, इसलिए तू अभी से दीक्षा लेने के लिए समुत्सुक मत बन।'

भगवान के इस प्रकार मना करने पर भी, राजकुमार नंदिषेण माने नहीं और दीक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार हो गये। उस समय आकाश में से भी दिव्यवाणी हुई कि—'तू दीक्षा ग्रहण मत कर, कारण कि तुझे अभी भोग अवश्य भोगने ही पड़ेंगे, ऐसा कर्म विद्यमान है।' भगवान ने निषेध किया और आकाश में दिव्यवाणी करके देवताओं ने भी मना किया, इस पर भी राजकुमार नंदिषेण का दीक्षा ग्रहण करने का उत्साह इतना अदम्य था कि—उन्होंने दीक्षा ग्रहण की ही।

योग्यता की परीक्षा करते हुए, यदि 'यह दीक्षार्थी अयोग्य' साबित होता है तो हम उसे तत्काल दीक्षा देने के लिए मना कर सकते हैं और उसके बाद प्रयत्न करने के बावजूद भी उसमें योग्यता न प्रकटे तो उसके लिए निषेध भी कर सकते हैं। इस प्रकार तत्काल दीक्षा न देने से, अमुक समय के लिए या उसके बाद भी यदि वह अयोग्य ही रहा तो, निषेध के कारण शायद जीवन भर के लिए वह असंयमी रहेगा, फिर भी उसके असंयम का पाप हमें नहीं लगेगा, वरन् भगवान की आज्ञा के पालन का फल मिलेगा।

प्रश्न : किन्तु उसे तो किसी प्रकार का लाभ नहीं होता न?

यह ठीक है कि उसे लाभ हो सकता नहीं किन्तु नुकसान भी हो नहीं हो सकता। भगवान की आज्ञा की विराधना करने के घोर पाप का भागी होने से वह बच जाता है। सही तो यह है कि-वह अयोग्य है, यह जानते हुए भी दीक्षा ग्रहण करने के बाद उसका पालन नहीं कर सकेगा, यह जानते हुए भी यदि हम उसे दीक्षा दें और उसके बाद वह भगवान की आज्ञा की विराधना करने वाला साबित हुआ तो उससे वह उस विराधना द्वारा जो पाप उपार्जन करेगा उसके हम भी भागी होंगे; जब कि हम यदि शास्त्रों की आज्ञानुसार देख सकें उतने प्रमाण में दीक्षार्थी की योग्यता देखकर और उसे

योग्य मानकर ही स्व-पर की अनुग्रह बुद्धिसे उसे दीक्षा दी हो, तो वह शायद भगवान की आज्ञा की विराधना करने वाला बने, तो भी हमें उस विराधना के विषय में पाप में भागी नहीं होना पड़ेगा और भगवान की आज्ञा के पालन का ही फल मिलेगा।

प्रश्न : श्री नंदिषेण प्रतिज्ञाभ्रष्ट होंगे ही, यह जानते हुए भी भगवान ने उसको दीक्षा क्यों दी ?

भगवान ने उनके उस प्रकार के भाविभाव को देखकर दीक्षा दी थी। क्योंकि भगवान श्री जिनेश्वर देव भी भाविभाव को नहीं टाल सकते। 'भगवान ने शायद इसी में नंदिषेण का हित देखा होगा' ऐसा तो कह ही नहीं सकते, क्योंकि-यदि इस में ही भगवान नें नंदिषेण का हित देखा होता तो, दीक्षा के लिए जो निषेध पहले किया था, वह न करते। यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि-हमें तो भगवान की आज्ञानुसार ही चलना है। उन तारकों की आज्ञा की अवहेलना करके, उन तारकों द्वारा किये गये कामों की नकल करने जाये तो आराधना तो दूर, विराधना ही पल्ले पड़ती है। उन तारकों की आज्ञा-नुसार दान आदि धर्म करने का हमारे हृदय में उत्साह जागृत हों-इसके लिए हमें उन तारकों द्वारा सेवित दानादि धर्मों का स्मरण करना चाहिए, मुझे भी ऐसे ही उत्कृष्ट प्रकार से दाना-दि धर्मों को करना है-ऐसे मनोरथ भी अवश्य करने चाहिए परंतु हम जो कुछ करें, उन तारकों द्वारा हमारे लिए कहे गये

प्रकारों को लक्ष्य में रखकर ही करें। हम भगवान की आज्ञा के पालक बनें, पर उन महाभागों द्वारा किये गये, काम करने की बातें करने द्वारा, उन पुण्य पुरुषों की आज्ञा के भंजक बनने जैसा तो हरगिज न बनें।

स्वयं भगवान और दिव्यवाणी द्वारा देवताओं के निषेध के बावजूद भी नंदिषेण ने दीक्षा ली ही, तब उस समय उन महानुभाव के मन में कैसे भाव होंगे? भगवान भी कहते हैं और दिव्यवाणी भी कहती है कि–'भोगों के भोगे बिना, कर्मों से तेरा छुटकारा हो सके ऐसे तेरे कर्म नहीं हैं' इस पर भी श्री नंदिषेण जब भोगों के लिए लालयित नहीं होते, भोग सुखों के प्रति दृष्टिपात तक नहीं करते, तब उस समय उनको भोग सुखों के प्रति कितनी सारी नफरत रही होगी और उनके हृदय में मोक्ष सुख को प्राप्त करने की कितनी जबर्दस्त तमन्ना होगी? श्री नंदिषेण ने भगवान के वचन के उपरांत होकर दीक्षा ग्रहण की–उसकी यह प्रशंसा नहीं है–पर उन्होंने जो कुछ किया, वह करते समय उनका मनोभाव कैसा प्रशंसनीय था, यही कहने का तात्पर्य है। महावीर परमात्मा पर गोशाला जब तेजोलेश्या छोड़ने आरहा था तब भगवान ने गणधर भगवान श्री गौतम स्वामीजी आदि सभी मुनियों को, दूर हट जाने और बीचमें न आने को कहा था, इस पर भी नक्षत्र और सुनक्षत्र नामके दो मुनि, गोशाला का भगवान पर आक्रमण करना सहन न कर सके और बीच में आगये। इस प्रसंग में क्या देखा जायगा?

अवरोधक बनता है, परंतु श्री नंदिषेण के आवेग में ऐसा कुछ है, जिससे वे प्रशंसा के पात्र बनते हैं।

राजकुमार श्री नंदिषेण ने वैराग्य के आवेश में दीक्षा ले ली थी और बाद में उनका वह नशा उतर गया। ऐसा भी नहीं हुआ है। भगवान ने उन्हें दीक्षा दी, इससे तो उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। उनका चारित्रमोह कर्म कितना बलवान है, इसके लिए उन्हें सावधान कर दिया गया था और उन्होंने उस चेतावनी को बराबर ध्यान में रखा था। जबसे दीक्षा ली थी तबसे ही उन्होंने कर्म के साथ घोर संग्राम शुरु कर दिया था। छट्ट और अठ्ठम आदि तप में तत्पर रह कर वे भगवान श्री महावीर परमात्मा के साथ बिना कहीं विश्राम किये विहरने लगे। जैसे वे तप के सेवन में तत्पर हो गये, वैसे ही ज्ञान-ध्यान में भी तत्पर हो गये। अनित्य आदि बारह भावनाओं को भाते हुए वे, बाईस परीषहों को भी बखूबी सहन कर रहे थे। इस प्रकार श्री नंदिषेण मुनिवर अपने कर्मों को क्षीण करने के लिए कैसा पुरुषार्थ करते हैं, यह भूलने योग्य नहीं है। वे राजकुमार थे, इसलिए उनका शरीर कितना कोमल रहा होगा? क्या उस कोमल शरीर को कठोर बनाये बिना छट्ट और अठ्ठमादि तपश्चर्याएं हो सकती हैं? फिर तपश्चर्या के साथ-साथ ज्ञानार्जन में भी सतत प्रयत्नशील, वहां आलस्य का तो नामो निशां हो ही कैसे? क्या रण संग्राम को जाने वाला वीर आराम करेगा? उसे तो सदा अपने शत्रुपर विजय पाने का ही दृश्य

दिखाई देगा न ? उसी तरह, इन मुनिवर का लक्ष्य भी एक ही था कि-तपसे, ज्ञान-ध्यानसे और परीषहों के सहन से कर्म रूपी शत्रु को हरा देना।

इस तरह अपने कर्मों को क्षीण कर देने की साधना में, मग्न मुनिवर श्री नंदिषेण को क्रमशः उनका चारित्रमोह का उदय, सताने लगा। चारित्रमोह कर्म का उदय श्री नंदिषेण मुनिवर के हृदय में भोग की इच्छा प्रकट करने लगा और नंदिषेण मुनिवर ने भोग की लालसा को, पैदा करने वाले कर्म के उदय को असफल करने के लिए-भोग की लालसा को दवा देने के लिए, पहले की अपेक्षा अधिक प्रवल तप करना शुरु कर दिया। संयम को किसी प्रकार की हानि न हो, ऐसी आतापना भी करने लग गये।

इतना कुछ करने पर भी मुनिवर श्री नंदिषेण अपने हृदय में उत्पन्न हो रही भोग की अभिलाषा को न रोक सके। चारित्रमोह कर्म उन्हें अत्यधिक भोग के अभिलाषी वनाकर, भोगों में प्रवृत्त करने में प्रयत्नशील था जब कि-मुनिवर श्री नंदिषेण उस कर्म को जडमूल से काटने की पैरवी में थे। उस समय उनके हृदय में वैराग्य भाव और कर्मो के बीच जो तुमुलयुद्ध चल रहा था, उसका वर्णन तो कल्पना से परे था।

जब श्री नंदिषेण, चारित्रमोह कर्म के साथ, युद्ध में विजय प्राप्त न कर सके, तव उन महापुरुष ने निर्णय किया

कि–'शरीर का नाश कर देना, पर भोगों में तो हर्गिज प्रवृत्त न होना' इस निर्णय के बाद उन्होंने एक पर्वत पर चढ़कर नीचे छलांग लगादी। परंतु पर्वत से लुढ़कते ही उनको एक देवताने बचाकर, अन्यत्र रख दिये। तत्पश्चात् देवताने कहा कि–'मरने का वृथा प्रयत्न क्यों करते हो? बिना भोगों को भोगे तुम मर भी नहीं सकोगे।'

मुनिवर श्री नंदिषेण ने देवता के इन वचनों की परवाह न की और अपने चारित्रमोह कर्म को क्षीण कर डालने के लिए, उस महात्मा ने एकांतवास कर, पहले से भी उग्र तप का आरंभ कर दिया। तुम्हें इन महात्मा के जीवन में कहीं भी कर्म को क्षीण करने के अतिरिक्त और भी कुछ दिखाई देता है?

अब इन मुनिवर के पतन का प्रसंग आता है। ये महामुनि एक बार वहोरने के लिए एक समय निकले हैं। वे राजपुत्र थे, पर अब तो मुनि हैं न? मुनि को संयम निर्वाह के बारे में जीवन निर्वाह के लिए जो कुछ भी वस्त्र-पात्र या अन्न-पान आदि की आवश्यकता हो वह भिक्षा द्वारा ही पूरी करनी पड़ती है। श्री वीतराग के शासन की यह मर्यादा है। मुनिवर श्री नंदिषेण इस मर्यादा को समझते हैं, इसलिए घर-घर घूम कर भिक्षा लेने की प्रवृत्ति के आचरण में कुछ भी संकोच नहीं करते हैं तथा लेश मात्र भी लज्जायमान नहीं होते। अतः मुनि मार्ग को समझने वालों के लिए भिक्षा मांगने जाने में कुछ भी

लोग ऊंच-नीच का अर्थ जाति वगैरह से करते हैं और 'साधु अठारहों जातियों की भिक्षा लेते थे' यह प्रचार करते हैं, परंतु उनका मतलब गलत है, क्योंकि श्री व्यवहार सूत्र में साधुओं के लिए अमुक कुल वर्जनीय हैं ऐसा फरमाया है।

मुनिवर श्री नंदिषेण ने जिस महालय में प्रवेश किया था वह एक वेश्या का निवासस्थान था। अनजान से ही मुनिवर नंदिषेण द्वारा उस महालय में प्रवेश हुआ था। मुनि श्री नंदिषेण ने उस महालय में प्रवेश कर 'धर्मलाभ' का उच्चार किया। साधु किसी भी घर में प्रवेश करते ही 'धर्मलाभ' का ही उच्चारण करते हैं अन्य कोई उच्चार नहीं करते। इसका भी कोई हेतु है। साधुओं की इच्छा अपने लिए भी धर्म की है और दुनिया के प्राणियों के लिए भी धर्म की है साधु मात्र की यही भावना होती है कि मैं धर्म का पालन करूं और जगत के प्राणी भी धर्म का पालन करें।'

'धर्मलाभ' का उच्चार यही सूचित करता है कि 'मैं भिक्षा के लिए आया हूं और मुझे जो भिक्षा दो वह धर्म प्राप्ति के हेतु से दो।' यह भिक्षा देने वाले पर प्रसन्न होकर दिया जानेवाला आशीर्वाद नहीं है। तुम्हारे घर में मैं आया हूं, इससे तुम्हें धर्म का लाभ हो–इस हेतु को सूचित करने के लिए धर्मलाभ का उच्चार है। इसी कारण तो जिस घर में से भिक्षा नहीं मिलती, जिस घर वाले

मुनिवर श्री नंदिषेण पर, अभिमान नामक दुर्गुण ने कातिल आक्रमण किया। "हत्तेरे की। धनलाभ के नाम पर, यह वेश्या मेरा अपमान करे? मेरे पास क्या कमी है? अभी इसे बता दूं कि–मेरी तपोलब्धि में जो अर्थनिधान है उसके मुकाबले में तेरा यह महालय क्या है?" इस प्रकार अभिमान उनको पछाड़ देता है। राज वैभव के त्यागी को, वेश्या के लोभ में विलुब्ध बनाने का जाल, विधि (भाग्य) इस प्रकार अभिमान द्वारा फैलाता है। जिस धन को असार समझकर त्याग किया, उसी धन की तपोबल द्वारा वृष्टि कर वेश्या को चमत्कार बताने का अभिमान इन महामुनि के मन में पैदा होता है सम्पूर्ण विश्व को गुमराह करने वाली वेश्या भी मोहित हुई, भान भूल गई यह ठीक है पर वह तो आखिर विषय में ही रमण

करने वाली थी लेकिन ये तो महामुनि थे न? वेश्या गलती करे इसका यह अर्थ तो नहीं कि महामुनि भी गलती करें? अन्य कोई गलती कर बैठे पर महामुनि को तो गलती नहीं करनी चाहिए। तब ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि वेश्या ने गलती की इसलिए महामुनिने भी गलती की? किन्तु ये मुनि, जिन्होंने विषयों और बुराईयों पर विजय प्राप्त की थी, उन्हें जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए जिन्होंने तप और संयम का अंगीकार किया था। सचमुच महामुनि ने भूल की। मुनि का धर्म केवल धर्मलाभ देना है, वे किसी को भी अर्थलाभ नहीं देते। ये महामुनि वेदोदय के परिणाम वे बचने के लिए ही तो अब तक गजबनाक रूप से प्रयत्नशील रहे थे, इसलिए ही उनके पतन के लिए विधिने (चारित्रमोह कर्मने) अभिमान नामक सुभट का सहारा लिया।

रत्नों की वृष्टि को वेश्या विस्फारित नेत्रोंसे निहार रही है। तभी श्री नंदिषेण उससे कहते हैं कि–'इस धनसे तुझे सुख का लाभ हो और यह कहकर श्री नंदिषेण जाने के लिए मुडते हैं। पर अब वेश्या उनको जाने देगी? श्री नंदिषेण राजकुमार तो थे ही साथ–साथ यौवनावस्था भी थी। तपके कारण शरीर कुछ कृश हुआ है पर शरीर की कान्ति तो ज्योतिमय बनी हैं। ऐसे युवान, सुकुमार, स्वरूपवान और लब्धिसंपन्न पुरुष का योग, कौनसी विषयलोलुप स्त्री नहीं चाहेगी? वेश्याने निश्चय

कर लिया कि–'अब तो इन महामुनि को जाने ही नहीं देना चाहिए।'

बला रूपी संमोहित वेश्या मुनि के गले पड़ी। अब तक तो वह कुछ बदहोश थी फिर भी दूर खड़ी थी किन्तु अब तो वह बराबर पास आगई। ऐसे रहस्यमय भाग्यवान को, वह विषयांध स्त्री एक कदम भी आगे बढ़ने देगी? यदि मुनि किसी को भी धन प्राप्ति की आशा पैदा करादे तो भी उन मुनि की दुर्गति होती है। मुनि को तो केवल धर्मलाभ ही देना चाहिए। मुनि ने स्वयं स्वीकृत धर्म की मर्यादा भंग की, अर्थात् धनलाभ देकर मुसीबत मोल ली! वेश्या धन की पुजारिन होती है, धन के लिए महापाप का आचरण करने वाली होती है, धन के लिए जीवनभर जिस किसी को देह का विक्रय करती है, ऐसी वेश्या स्त्री, इस प्रकार की अर्थ सिद्धि को अपनी आंखों से देखे, एक तिनके को तोड़कर फेंकने से रत्नों का ढ़ेर हुआ देखे तिस पर भी युवान और स्वरूपवान पुरुष हो तो वह वेश्या अपने स्त्री चरित्र की आजमाईश करने में या वेश्या सुलभ कला का उपभोग करने में कोई कसर रखेगी? वह कहती है–'अब कहां जाते हो? तुम तो मेरे प्राण हो! तुम चले गये तो मैं प्राण दे दूंगी! इतनी तपस्याएं की, तब भी तुम में मृदुता नहीं आई है? अब तो कृपा करके यहीं रहकर, मेरे साथ भोगोमभोग करो।'

र रही थी और इसीलिए उन्होंने ऐसा अभिग्रह ग्रहण किया था।

अभिग्रह ग्रहण करने के बाद श्री नंदिषेण ने अपना मुनिवेष तारा। वे जानते थे कि यह शरीर यदि मुनियों के योग्य चरण न कर सके और जो शरीर ऐसा आचरण करता हो मुनिगण के लिए अशोभनीय हों तो उस शरीर पर मुनिवेष ी नहीं रहना चाहिए। मुनिवेष–यह ऐसा पवित्र वेष है कि, सकी अवहेलना नहीं की जा सकती, उसके लिए संपूर्ण सावधानी रतनी चाहिए। जिस प्रकार सैनिकों का वेष किसी अन्य धारण व्यक्ति से नहीं पहना जा सकता और सैनिक भी उस ष को पहनकर, ऐसा वर्तन करे जो एक सैनिक के लिए शोभनीय हो तो वह सैनिक दंड का भागी बनता है–ठीक उसी कार मुनिवेष के लिए भी समझना चाहिए। शरीर पर मुनिवेष ारण कर, अनाचारों का सेवन करना यह भगवान की भयंकर ीति की विराधना है। आजकल कितने ही अनाचारी मुनिगण अनुरूप आचरण का पालन नहीं करते हैं और मुनिपने का ाश कर जहाँ–तहाँ–ज्यों–त्यों भटकते रहते हैं। किन्तु मुनिवेष ा त्याग नहीं करते और मुनिवेष के कारण दुनिया से मिलने ाला लाभ उठाते हुए वे सब भयंकर रूप से शासन का द्रोह र रहे हैं। मुनिवेष रखना हो तो मुनिपने के आचार-विचार का ावधानी पूर्वक पालन करना चाहिए। अगर गलती हो जाये तो ायश्चित करना चाहिए और पुनः ऐसा न हो इसका ध्यान

रखना चाहिए। मुनिवेष में रहकर अनाचारों का सेवन करना इससे तो पाप बंधन इतना हो जाता है कि उस पाप के परिणाम स्वरूप कितने ही काल दुर्गतियों में भटकना पड़े और दुर्गतियों में भी कदाचित् सर्वाधिक कष्टदायी दुःख सहने पड़ें। पवित्रता के प्रतीक रूप, संयमाचरण की ही साक्षीरूप इस मुनिवेष में रहकर अनाचारों का इरादापूर्वक सेवन करना, यह तो तभी हो सकता है जब कि हृदय में निर्ध्वंस परिणाम उत्पन्न हों। इरादा न होते हुए भी अनाचार का सेवन हो जाय, तो प्रायश्चित द्वारा छूटा जा सकता है, मगर मुनिवेष में रहकर अनाचार को आनंद के लिए सेवन करने वाले का तो किसी प्रायश्चित से छुटकारा नहीं होता। ऐसा व्यक्ति तो जिस प्रकार आत्माको ठगता है उसी प्रकार संसारको और धर्मशील व्यक्तियों को भी ठगता है। जिस मुनिवेष को वंदन करने से भी लाभ होता है, हृदय में पवित्रता का संचार होता है, पवित्र बनने की भावना जागृत होती है, ऐसी पावन और पावनकारी मुनिवेष की छांव में अनाचारों के आचरण की दुर्बुद्धि तो भयंकर कोटि की पापात्माओं में ही उत्पन्न हो सकती है।

वेश्या को स्पर्श करने से पहले श्री नंदिषेण ने जिस प्रकार अभिग्रह ग्रहण किया था उसी प्रकार मुनिवेष भी उतार दिया था। मुनिवेष को उतार कर श्री नंदिषेण ने उसको उस भवन के एक पवित्र स्थानपर रखा और वह भी इस प्रकार कि, स्वयं प्रतिदिन उस वेष के दर्शन कर सके और साथ ही वेश्या भी।

उस वेष का दर्शन भी स्मृति कराता है कि-"तुझे साधना इस वेष के द्वारा ही करनी है!"

इसके पश्चात् श्री नंदिषेण वहीं रहकर वेश्या के साथ भोगोंका उपभोग करने लगे। अब तो वेश्या भी अपना पेशा छोड़कर एक गृहिणी बन चुकी है। श्री नंदिषेण को प्रसन्न रखने की सावधानी बरतती है। इस प्रकार की भोग सामग्री की अनुकूलता के बीच भी श्री नंदिषेण अपने अभिग्रह का ठीक तरह से पालन कर रहे हैं। वेश्या के मंदिर में बैठे हुए भी उन्होंने दीक्षा की ही प्रभावना प्रारंभ कर दी है। उस घर में श्री नंदिषेण अकेले गये किन्तु प्रतिदिन दस-दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित करके घर से बाहर भेजते हैं और संयम के उपासक बनाते हैं।

भोगों का उपभोग करते हुए भी यदि वे भोगों को रोग जैसे न मानते होते, यदि वे निरुपाय होकर ही रोगों के समान भोगों का उपभोग न करते होते और भोगों में ही वे लिप्त हो जाते तो प्रतिदिन धर्मोपदेश देकर जिस तरह दस व्यक्तियों को संयमी बनाते थे, वह बना सकते थे? हर्गिज नहीं। उनमें उपदेशदान की लब्धि अवश्य होगी, किन्तु उस लब्धि का इस प्रकार उपभोग करना, इससे क्या सूचित होता है? इससे तो यही फलित होता है कि, वे स्वयं जिन भोगों का उपभोग करते थे वे निरुपाय होकर ही करते थे और भोगों के उपभोग में उनका उद्देश्य केवल यही था कि उनके उस प्रकार के भोग कर्म को क्षीण करना।

प्रतिदिन जब वे धर्मोपदेश देते होंगे, तब उनको ऐसा पूछने वाले नहीं मिलते होंगे कि—'इस मनुष्य जन्मको पाकर यदि संयम ही आराधने योग्य है और भोग त्याज्य ही है, तो तुम यहां क्यों रह रहे हो?' ऐसा पूछने वाले भी मिलने की संभावना है। उस समय वे यही उत्तर देते कि—'मैं भी इन भोगों को छोड़ने और संयम को साधने का ही प्रयास कर रहा हूँ। मेरी कुछ ऐसी भयंकर कोटि की भवितव्यता है कि, मुझे इस भोग रूपी नरक में पड़े रहना पड़ा है। इस नरक में न पड़ने के लिए मैंने तो मुझसे हो सके उतने प्रयास किये, किन्तु मेरे चारित्रमोह कर्म ने मुझे मजबूर कर दिया।'

श्री नंदिषेण वेश्या के यहाँ कोई दो—चार दिन या दो—चार माह तक ही नहीं रहे। वे बारह—बारह वर्षों तक वेश्या के यहाँ रहे हैं। उन बारह वर्षों में एक दिन भी ऐसा नहीं गया कि, जिस दिन उन्होंने दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित कर दीक्षा के लिए न भेजे हों। किसी भी दिन उन्होंने दस को प्रतिबोधित कर दीक्षा लेने के लिए भेजने से पूर्व भोजन नहीं किया।

प्रश्न : ऐसा अभिग्रह ग्रहण करने के पीछे उनका कोई आशय था?

चारित्रमोह कर्म को खंडित करने का यह भी एक अति उत्तम उपाय है। दूसरों के हृदय में चारित्र के प्रति आदर भाव उत्पन्न कराना दूसरों को चारित्र के पालन करने वाले बनाना,

चारित्र की भावना में रमण करना, यह भी चारित्रमोह कर्म को हल्का बनाकर उसे क्षीण करने की योग्यता को संपादन करने का उपाय है। श्री नंदिषेण भोगों के उपभोग द्वारा भी अपने चारित्रमोह कर्म को हल्का बना रहे थे। उनके इस अभिग्रह के पालन से इसी बात की ही पुष्टि होती है।

ज्यों–ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों–त्यों श्री नंदिषेण का निकाचित भोग फल कर्म क्षीण होता गया। अब तो वह टूटने की तैयारी में था। वह कर्म जैसे ही टूटा कि, शीघ्र ही श्री नंदिषेण को भोगों के त्याग करके चले जाने का और संयमी होने का अवसर मिल गया।

वारह वर्ष के वाद एक वार ऐसा हुआ कि–श्री नंदिषेण अपने नित्यक्रमानुसार, दस को प्रतिवोधित कर दीक्षा लेने जाने के लिए धर्मोपदेश कर रहे हैं। उस दिन उनके धर्मोपदेश से प्रतिवोधित होकर नौ व्यक्ति तो दीक्षा लेने के लिए चले गये किन्तु दसवां कोई नहीं मिला। उनके धर्मोपदेशको सुनने वालों में अव केवल एक सोनी ही रहा है और श्री नंदिषेण द्वारा अथक प्रयासों के वावजूद भी वह प्रभावित नहीं होता और प्रतिवोधित नहीं होता है।

संसार में सोनी जाति की गणना धूर्तों में की जाती है। 'सस्सारे सोनी का विश्वास न कीजे' यह कहावत भी जग में प्रचलित है। संस्कृत भाषा में सोनीको 'पश्यतो हर' कहा जाता

"मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः ।
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ॥
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य ।
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥ १ ॥

कवि का कहना नितान्त सत्य है। वह कहता है कि-मद से उन्मत्त हाथियों के गण्डस्थलों को चीर देने वाले शूरवीर तो इस दुनिया में हैं, कुछ सिंह का वध करने में भी दक्ष हैं, समर्थ हैं, परन्तु ऐसे शूरवीरों और बलवानों की क्या किमत है? ऐसे बलवानों को ललकार कर कह सकता हूं कि-कन्दर्प के दर्प को काम के गर्व को तोड़-मरोड़ने वाले, या जीतने वाले तो कोई विरले ही हैं।

भोग सुखकी पराधीनता—

अकेले ही बड़ी बड़ी सेनाओं के साथ डटकर विजय प्राप्त करने वाले और सिंह या हाथी को वश करने वाले भी जहां काम की लालसा वाले बनते हैं कि उनका सम्पूर्ण शौर्य ठंडा पड़ जाता है। जिस किसी के साथ भोगोपभोग की लालसा

हुई, उसे मनाने में खुश करने में, यहाँ तक कि उसके पांवों में गिरते हुए भी संकोच नहीं होता। भोगसुख है ही ऐसा कि उस सुख को प्राणी अकेला नहीं भोग सकता! दूसरेका योग आवश्यक है। दूसरे की आवश्कता पड़ी तो वह पराधीनता ही हुई। आत्मिक सुखके अतिरिक्त कोई भी सुख स्वाधीन नहीं हैं। भोगसुखों की प्राप्ति में, भोगसुखों के रक्षण में और भोगसुखों के उपभोग में पुण्य का योग आवश्यक है।

पुण्य का योग न हो तो, जितनी अधिक भोग की लालसा होगी उतना ही अधिक कष्ट होगा और कष्ट भोगते हुए भी कुछ नहीं मिलेगा। सुख का उपयोग स्वयं को करना है और उसका आधार अन्यपर है। पर की आवश्यकता महसूस हुई, फलतः दरिद्रता आयेगी ही। आत्मिक सुख वह है जो स्वतंत्रता पूर्वक भोगा जा सके। उस सुख की आकांक्षा जाग्रत होने पर मनुष्य में खुमारी आती है, इसका क्या कारण है? भोग सुख में दूसरे की प्रसन्नता आवश्यक है। जब आत्मिक सुख की आकांक्षा जाग्रत होती है तो कर्म को क्षीण करने की आवश्यकता पड़ती है। भोगसुख के लिए आंखों में और दिल में जबरदस्ती से मधुरता लानी पड़ती है, जबकि आत्मसुख के लिए कर्म की तरफ सख्ताई से पेश आना पड़ता है। इससे कैसे भी शूरवीर भी भोगसुख के सामने अशक्त हो जाते हैं।

भोगसुख की लालसा क्या करती है ? :-

भोगसुख की लालसा तत्काल तो दीन वना देती है, किन्तु इसके वाद भी उसके योग से कितनी ही अन्य व्याधियां उत्पन्न होती हैं। भोगसुख की लालसा प्राणीमात्र में ईर्ष्या को जन्म देती है। भय उत्पन्न करती है। मेरे भोगसुख के साधन का उपभोग अन्य कोई न करे, या उसे कोई ले न जाये उसकी चिन्ता और भय भी सदा उसे घेरे रहते हैं। भोगसुख की लालसा अन्य के भोगसुख के साधन को छीन लेने की वृत्ति भी पैदा करती है और इसके कारण प्राणी अनेकविध हिंसादिक पापों का संगी वनता है। भोगसुख की लालसा के कारण ही दुनिया में हिंसादिक पाप जोर-शोर से हो रहे हैं। यह कहावत जग प्रसिद्ध है कि, जर, जमीन और जोरु, ये तीनों झगड़े की जड़ हैं।' पर यदि जोरु की यानि स्त्री की लालसा मिट जाती है तो जर और जमीन की आवश्यकता ही कितनी रहती है ? जर और जमीन के झगड़े मुख्यतः स्त्री की लालसा में से ही उत्पन्न होते हैं।

शांति के वजाय अशांति की वृद्धि क्यों ?

आज विश्व में शान्ति स्थापित करने की चर्चाएं तो बहुत होती हैं फिर भी अशान्ति बढ़ती ही जा रही है। कारण यही कि भोगसुख की लालसा भी दिन प्रतिदिन बढ़ रही है सीमा

फैलकर बढ़ रही है। भोगसुख की लालसा को नियंत्रित किये बिना, कोई भी शांति का उपभोग नहीं कर सकता। दुनिया में शांति का प्रचार करना हो, तो भोगसुखों में ही सच्चा सुख देखने वाले संसार को आत्मसुख की ओर आकर्षित करने वाले साधनों की ओर भी द्वेष भाव बताया जा रहा है। देव-गुरु-धर्म के प्रति बहुमान बढ़े ऐसा करने के बजाय, दुनिया के प्राणी देव-गुरु और धर्म को भूल जायें, इस प्रकार का प्रचार चल रहा है इस आर्यदेश में आत्मसुख की ओर ले जाने वाला जो वातावरण था उस वातावरण को पूर्णरूपेण बदल दिया गया है। आर्यसंस्कृति, जो कि भोगसुख की लालसा पर काबू प्राप्त कर सहन करना सिखाती थी आज तो उसी आर्यसंस्कृति की जड़ पर भयंकर कुठाराघात हो रहा है।

श्री नंदिषेण के साथ सेनचक हाथी का पूर्व संबंध

संसार में भोगसुख की लालसाने तो भयंकर अनर्थ किये हैं। केवल मानव ही नहीं, पशुगण भी भोगसुख की लालसा के कारण भयंकर पापों का भागी बनता है। मुनिवर श्री नंदिषेण जिनके विषय में हम विचार कर चुके हैं उनके पूर्वभव के संबंध में भी ऐसा प्रसंग आता है।

श्रीपुर नामक एक नगर था। उस नगर में यज्ञप्रिय नामक एक सुखी ब्राह्मण और भीम नामक एक गरीब ब्राह्मण था। यज्ञप्रिय सुखी था और दान की रुचिवाला था। इसलिए उसने

पानी भर वृक्षों की सिंचाई करने लगा, इससे उस हाथी का नाम 'सेनचक' पड़ा।

यह हाथी उसी मल्लप्रिय ब्राह्मण का जीव है। उसका कुछ पुण्य था तो ही वह इस प्रकार अपने पिता के हाथों होने वाली मौत से बच गया। किन्तु उसका पुण्य पापानुबंधी होने से उसके हृदय में कैसे दुर्भाव का संचार हुआ, यह देखिये। सेनचक हाथी धीरे–धीरे बडा हुआ। एक बार वह नदी के किनारे पानी पीने गया था। भवितव्यता के योग से उसी नदी के किनारे उसका पिता हाथी भी अपनी हथिनियों सहित पानी पीने के लिए आया।

सेनचक और उसके पिता हाथी की आंखें चार होते ही दोनों की आंखों से शोले बरसने लगे। सेनचक को लगा कि 'इस हाथी को मारकर मैं इन हथिनियों के समूह का स्वामी बनूं।' और सेनचक के पिता हाथी को हुआ कि–'इसे मार कर मैं निर्भयता पूर्वक हथिनियों के उपभोग में निश्चित बनूं।' इस तरह कामभोग की लालसा ने पिता-पुत्र दोनों हाथियों के दिल में वैरभाव और हिंसकभाव उत्पन्न कर दिया। उन दोनों के बीच तत्काल युद्ध हुआ। उस युद्ध में सेनचक हाथी जीता और उसका पिता हाथी मारा गया। अब सेनचक उन सभी हथिनियों के गण का स्वामी बना।

इस प्रकार सभी हथिनियों के स्वामी बनने के बाद सेनचक को, –'उसका पिता हाथी अपने सभी बच्चों को जन्मके साथ ही क्यों मार डालता था ' यह मालूम हुआ और उसकी माता हथिनीने किस प्रकार तपस्वियों के आश्रम का सहारा लेकर उसे उसके पिता के हाथों मरने से बचा लिया था। यह भी उसे मालूम हुआ।

दुर्भाग्य से जो वृत्ति उसके पिता हाथी में थी वही वृत्ति सेनचक के दिल में भी पैदा हुई। ऐसी वृत्ति पैदा होने से, सेनचक ने तपस्वियों के आश्रम को ही नष्ट करने का निर्णय किया।

जिस आश्रम के सहारे उसका जन्म सुखपूर्वक हो सका, जन्म लेकर जीवित रह सका, जी कर बड़ा हो सका और बड़ा होकर इतनी सारी हथिनियों का एकदम स्वामी बन सका, उस आश्रम के तपस्वियों द्वारा किये गये उपकारों को भी भूल और उस आश्रम के गुणों को भूलकर, सेनचक ने उस आश्रम को नष्ट करने का निर्णय किया। यह किसका प्रताप था? यह प्रताप काम वासना की तीव्रता का था, साथ ही जिस पुण्यसे इतनी सामग्री प्राप्त हुई वह पुण्य पापानुबंधी था, इसलिए उसका प्रताप भी कहा जा सकता है।

सेनचक ने इसीलिए तापसों के आश्रम का नाश करने का निर्णय किया कि–'कोई हथिनी मेरे पिता के समान मुझे भी

शक्ति है। सचमुच श्री सुदर्शन में नाम के ही अनुसार गुण थे। सु—अच्छा दर्शन—देखना, जिनका दर्शन भी सुन्दर था।

उनके अनेक गुणों से आकर्षित उनका पुरोहित मित्र प्रतिदिन अपनी पत्नी के सामने श्री सुदर्शन की प्रशंसा करते फूला न समाता था। जब–जब वह कपिल पुरोहित देरी से घर पहुँचता, तब-तब उसकी कपिला नामक पत्नी पूछती कि-'आप अब तक कहाँ थे ? कपिल का उत्तर होता था कि 'मैं अपने मित्र सुदर्शन के साथ गोष्टी करनें के लिए ठहर गया था।' कहकर वह श्री सुदर्शन की बुद्धिमत्ता का और उसकी सौम्य प्रकृति आदि का वर्णन करता।

अपने पति के मुख से श्री सुदर्शन के विषय में अत्यधिक प्रशंसाएं सुनने के कारण कपिला को श्री सुदर्शन के प्रति अनुराग होने लगा। कपिला का वह अनुराग गुणानुराग न होकर कामानुराग था।

अच्छी वाणी भी पात्रानुसार परिणाम लाती है इसका यह भी एक ज्वलन्त उदाहरण है। पति–पत्नी के गुणानुरागों में कितना अन्तर था, पति गुणानुराग से आकर्षित होकर भक्ति-मय प्रीति वाला बना था। जबकि कपिला कामराग से आकर्षित होकर प्रीति वाली बनी थी। श्री सुदर्शन के गुणों की प्रशंसा ने कपिला में कामराग का आकर्षण उत्पन्न किया, इसमें दोष किसका ? जिसमें गुणानुराग होता है, उस गुणसम्पन्न

की प्रशंसा करने का जी होता है। उस प्रशंसा को सुनकर कोई कुमति वाला वने, तो इसमें प्रशंसा करने वाला क्या करें?

ऐसा एक प्रसंग आचार्य भगवान श्रीमद् वज्रस्वामीजी संवंध में भी वना था। आचार्य भगवान श्रीमद् वज्रस्वामी जिस प्रकार अनेक गुणों के भण्डार थे उसी प्रकार उनका रूप भी अद्वितीय था। साध्वीयाँ जैसे उनके गुणों की प्रशंसा करती थी वैसे ही उनके रूप की भी प्रशंसक थी। क्योंकि उन महापुरुप का रूप भी अनेक आत्माओं को धर्मशासन की ओर आकर्षित करता था। यों कहिये कि संयमी महापुरुषों के सभी गुण प्रशंसनीय वन जाते हैं। साध्वीयाँ उन महापुरुष के रूप–गुण आदि की प्रशंसा करती थी। यह सुनकर एक सेठ पुत्री को आचार्य भगवान श्रीमद् वज्रस्वामी से शादी करने का दिल हो गया। सादितयों ने उस कन्या को बहुतेरा समझाया पर वह कन्या टस से मस न हुई। उसने तो हठ पकड़ ली कि–'शादी करूँगी तो श्री वज्र स्वामी से ही।' अब इसमें दोष किसका है? साध्वीयों का? क्या उन्हें ऐसा कहा जा सकता है कि–'उन्होंने आचार्य भगवान की इतनी प्रशंसा क्यों कि, जिससे कि सेठ–पुत्री को उनसे शादी करने को जी हुआ?' तव क्या 'साध्वीयों को आचार्य भगवान के रूप की प्रशंसा नहीं करना चाहिए।' कहा जा सकता है? यकीनन नहीं कहा जा सकता। साध्वीयों का आशय क्या था? वे महापुरुष अपने रूप से भी उपकार कर रहे हैं, इसकी अनमोदना कर श्रोताओं को उन महापुरुष के प्रति

बनाना, यही तो उन साध्वीयों का आशय था। हालांकि बाद में तो वह सेठ-पुत्री भी आचार्य भगवान श्रीमद् वज्रस्वामीजी के सदुपदेश के कारण सद्धर्म को ही प्राप्त हुई, मगर इससे पहले उसने उसके पिताको इतना लाचार बना दिया था कि चाहे जितना द्रव्य देकर भी आचार्य भगवान को शादी के लिए राजी करने जाना पड़ा। मगर सद्वाणी सुपात्र आत्माओं के हृदय में अच्छा असर करने वाला ही साबित होता है।

कपिला तो अब श्री सुदर्शन के संग की ताक में रहने लगी। उसके पति कपिल को, कपिला की इस कामवेदना की जानकारी नहीं हैं। ऐसे कुटिल हृदय की स्त्रियाँ प्रायः ऐसी कुशल होती हैं कि, पति की दृष्टि में सदा वह महापतिव्रता ही दृष्टि गोचर हो। वह तो कभी किसी मौके पर उसके पाप का घड़ा फूटे तब ही मालूम पड़ सकता है कि उसकी पत्नी कैसी है?

एक बार कपिल को किसी खास कार्यवश दूसरे गाँव जाना पड़ा। श्री सुदर्शन को भी अपने जाने की सूचना न दे सका। कपिलाने भी सोचा कि-'कितने ही दिनों से दिल में दबी हुई अभिलाषा को पूर्ण करने का आज अच्छा अवसर मिला है। आज सुदर्शन को यहाँ लाकर, उसके संग के रंग का आनन्द लूं।"

इस निर्णय के साथ ही कपिला शीघ्र ही श्री सुदर्शन के घर गई और उनसे कहा कि-"आपके मित्र को ज्वर आ गया

है, इसलिए आपको बुलाते हैं। आपको ले जाने के लिए ही मैं आई हूं। आप बिल्कुल देरी न करें, क्यों कि आपके बिना उन्हें एक पल भी चैन नहीं है।"

अपनी पाप वासना की पूर्ति के लिए कपिला कितना घोर असत्य बोलती है? एक पाप में से हजारों पापों का सर्जन होता है। पाप कितना बुरा है? केवल एक ही पाप के लिए कितने ही पापों का आश्रय लेना पड़ता है और अनेक पापों का आश्रय लेते हुए भी यदि पुण्य का योग न हो तो इच्छित फल नहीं मिलता है। यदि कदाचित् पुण्य का योग हो तो इच्छित फल मिल भी जाय पर इसे क्या कहा जाय? जिससे हमें सच्ची मदद् मिलती है उसका तो हम द्रोह करते हैं और उसके दुश्मन का पोषण करते हैं। पुण्य की मदद से पाप का आचरण, क्या है? पुण्य का द्रोह ही तो है न? पाप, पुण्य का दुश्मन है अतः आपने पाप रूपी दुश्मन का पोषण ही किया न? लेकिन विषय सुखों के भोग में ही सुख की कल्पना करने वाले तो, किसी का भी द्रोह कर सकते हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

श्री सुदर्शन तो कपिला की बात को सत्य ही मान लेते हैं। यह सुदर्शन तो 'मुझे यह खबर ही न थी।' ऐसा कहकर अपने सभी कामों को छोड़कर अपने मित्र के घर आता है।

मित्र के पास जाने के लिए ज्योंही श्री सुदर्शन कपिला के अंदर के कमरे में प्रवेश करते हैं तुरंत ही पीछे से कपिला-

श्री सुदर्शन कुछ भी नहीं बोल पाते हैं। न तो हिलते हैं और न डुलते हैं। सोच रहे हैं कि वे किस परिस्थिति में आ पड़े हैं। कामवश बनी हुई कपिला को इस प्रकार की माँग करते देखकर उन्हें होता है कि—'भोगसुख की लालसा कितनी गजबकी है?'

श्री सुदर्शन को मौन और जड़वत् खड़े देखकर कपिला उनके शरीर से सट जाती है। किन्तु श्री सुदर्शन के दिल में कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं होता। श्री सुदर्शन तो यहाँ से मुक्त होने की युक्ति सोच रहे हैं। कपिला अपने ही शरीर का संग करने लगी तो निर्विकार रूप से सुस्थिर खड़े हुए श्री सुदर्शन ने कहा कि—'तुझे किसने इस उल्टे चक्कर में फंसा दिया? मैं तो नुपंसक हूँ, मगर तू यह बात किसी से न कहना।'

श्री सुदर्शन की बात सुनकर कपिला तो ठंडी हो गई। एकदम क्षोभित हो गई। उसने यही मान लिया कि—'सुदर्शन नपुंसक ही है, कारण कि श्री सुदर्शन के शरीर को स्पर्श करने पर भी श्री सुदर्शन विलकुल निर्विकार और निश्चल रहे थे।

इससे उसने भी श्री सुदर्शन से कहा कि–'तुम भी मेरे दुष्कार्य की बात किसी से मत कहना।' ऐसा कहकर, हताश कपिला ने श्री सुदर्शन को घर से बाहर किया और श्री सुदर्शन अपने घर की ओर रवाना हुए।

वस्तुतः श्री सुदर्शन नपुंसक न थे, किन्तु परस्त्री के लिए ही तो वे नपुंसक ही थे, अतः उन्होंने जो कहा था वह ठीक ही कहा था। ऐसे अवसर पर ऐसा जवाब देना माया करने जैसा ही पर वस्तुतः वह माया (कपट) नहीं है। सुविहित शिरोमणि, परम उपकारी, आचार्य भगवान श्रीमद् हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराजाने कहा है कि–'धर्मे माया नो माया' यह ऐसे ही प्रसंग के लिए है।

हमें तो यह सोचना है कि कामोन्मत्त बनकर, भोग की प्रार्थना करती हुई कपिला के सम्मुख श्री सुदर्शन निर्विकार कैसे रह सके? विकार उत्पन्न होने के लिए यह कोई जैसा–तैसा निमित्त न था, पर उपादान कारण का योग न होने से ही, यह निमित्त निष्फल हुआ। ऐसा प्रबल निमित्त कारण मिलने पर भी उपादान कारण का योग क्यों न हुआ? इसका एक ही उत्तर है कि, भगवान के बताये मार्ग को श्री सुदर्शन नहीं भूले थे। उनकी दृष्टि भगवान के बताये मार्ग की आराधना की ओर ही रही थी। श्री सुदर्शन कोई त्यागी न थे, भोगी थे परन्तु भोगी होते हुए भी उनका लक्ष्य त्याग की ओर था। भोगोपभोग

होता है। श्री सुदर्शन का लक्ष्य यदि भगवान के बताये धर्म की ओर न होता, मोक्षसुख की ओर न होता, मोक्ष की साधना की ओर न होता, तो ये संयोग कोई जैसे-तैसे न थे। उन्हें चलित किये बिना रहते ही नहीं। भोग की प्रार्थना करने वाली युक्तिपूर्वक प्रयत्न करने वाली, दीनता बताने वाली, उनकी अनिच्छा के बावजूद, अपने आप अंगसमर्पण करनेवाली स्त्री कोई सामान्य स्त्री न होकर, स्वयं रानी है। एकान्त है और उस पर भी रात का समय है। रानी यदि प्रसन्न होती है तो बहुत फायदा हो सकता है और यदि गुस्सा हो तो खून खराब भी संभव हो सकता है। इतना सब होने पर भी श्री सुदर्शन तो अपने कायोत्सर्ग में ही सुस्थिर रहते हैं।

जब रानी के प्रीति बताने पर भी कुछ न हुआ तो उसने भीति बताना शुरू किया, किन्तु प्रीति के समान भीति भी असफल सिद्ध हुई।

अब रानी को डर लगा। 'सांप ने छछूंदर को निगला' ही वैसी हालत रानी की हुई। श्री सुदर्शन को वह रख भी नहीं सकती थी और वापस भेजें तो इज्जत जाने का डर था। श्री सुदर्शन के प्रति रानी को अत्यन्त क्रोध आया। रानी विकराल बन गई। उसने अपना पाप श्री सुदर्शन के सिर ठो देने का निर्णय किया। अपने वस्त्रों को अपने ही हाथों से नोंच-नोंचकर फाड़ दिये। अपने शरीर पर भी नाखूनों के निशान बना दिये

रहित न हो, वह सच्चा देव नहीं है और जो काम विजेता न हो और उसकी कामना से भी रहित न हो वह सच्चा गुरू नहीं है जो देव अस्मर नहीं है वह वास्तव में देव नहीं है। अस्मर देव भक्तों को अस्मर बना ही नहीं सकता और अस्मर बने बिना कभी भी अव्याबाध सुखों के उपाय का सेवन नहीं किया जा सकता। अस्मर भगवान श्री जिनेश्वर देवों के शासन में ब्रह्मचर्य गुण को बहुत ही महत्व दियागया ब्रह्मचर्य गुण का मतलब है कि काम का मन, वचन और काया से त्याग करना। इससे भी अधिक कहें तो ब्रह्मणि-आत्म निचरणम् ब्रह्मचर्यम्।' अर्थात् आत्मरमणता ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के गुणों का वर्णन करना मुश्किल है, कारण कि अधिक से अधिक उन भी संख्यक वर्ष भी हो सकती है और वाणी क्रमानुसार ही, निकलती है, अतः अनन्त का पूर्ण वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हुए परम उपकारी कलिकाल सर्वज्ञ- आचार्य भगवान श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज कहते हैं—

"प्राणभूतं चारित्रस्य, परब्रह्मैककारणम्।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं. पूजितैरपि पूज्यते ॥१॥"

ब्रह्मचर्य का आचरण करते करते, आत्मा उस कक्षा को पहुंच जाती है कि जिसकी वह पूजा करता था उसीका पूजनीय बन जाता है, कारण कि ब्रह्मचर्य सम्यक्चरित्रका प्राण है और परब्रह्म यानि आत्मा की परम शुद्धावस्था उसका कारण है। कामत्याग स्वरूप और आत्मारमण

भगवान की अनीश के रूप में स्तवना

'सभी विघ्नों का मूल उन्मूलन'

पंचमांग श्री भगवती सूत्र की टीका की रचना करने के लिए उद्यत हुए परम उपकारी आचार्य भगवान श्रीमद् अभयदेव सूरीश्वरजी महाराज प्रारंभ में मंगल का आचरण कर रहे हैं। मंगल की आचरणा करके वह आशंकित विघ्नदल के विदारण की इच्छा रखते हैं। इसलिए मंगलाचरण के लिए वह जिन-स्तुति करते हैं। सर्व विघ्नों की विदारण-कर्ता और सभी दुरितों की दलन कर्ता श्री जिनस्तुति है। श्री जिनस्तुति करनेवाली आत्मा अपने चारों घाती कर्मों को क्षीण करनेवाली बन सकती है। चारों घाती कर्म ही सभी विघ्नों के मूल हैं। महान से महान विघ्न ये चार ही हैं। वैसे तो भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से हजारों लाखों नहीं अपितु अनंत विघ्नों की गणना भी की जा सकती है। परंतु आत्मा के गुणों का घात कर सकने में समर्थ सभी विघ्नों का समावेश इन चार घाती कर्मों में हो जाता है। अतः सच्चे विघ्न तो ये चार घाती कर्म ही हैं। ये चार विघ्न यदि नष्ट हो जाये तो आत्मा की चार महाशक्तियाँ प्रकटित हो जाये! और संसार समाप्त हो जाये। ज्ञानावरणीय कर्म

ज्ञान का आवरण करता है, दर्शनावरणीय कर्म दर्शन (सामान्य ज्ञान) का अवरोधक है। मोहनीय कर्म सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्र का अवरोधक है। और अन्तराय कर्म वीर्योल्लास दान-भोग-उपभोग और लाभ का अवरोधक है। इन चार कर्मों को घाती कर्म कहने का कारण यह है कि ये चार कर्म आत्मा के स्वाभाविक अनन्तज्ञानादि गुणों पर एक भारी ढक्कन के समान हैं। उदाहरण के लिए कह सकते हैं कि दीपक चाहे जितना प्रकाशवन्त हो, उसका प्रकाश चाहे बहुत दूर तक पहुँच सकता हो, पर यदि उस पर ढक्कन आजाये तो, उसका प्रकाश फैल नहीं सकेगा। उसी प्रकार आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान-रूप-गुण को, अनन्त दर्शन-रूप गुण को, अनन्त चरित्र-रूप गुण को और अनन्त वीर्य-रूप गुणों को अपनी शक्ति प्रकट करने से रोकने वाले ये चार घाती कर्म ही हैं। ज्ञानावरणीय आदि चार कर्मों को जिस प्रकार घाती कहा जाता है उसी प्रकार उन्हें छद्म भी कहा जाता है। छद्म अर्थात् आवरण (ढक्कन)। इसलिए जिस जीव ने केवल ज्ञान नहीं प्राप्त किया है उस जीव को छद्मस्थ कहा जाता है।

स्वभाव से अनन्त ज्ञानी आत्मा को छद्मस्थ विशेषण के योग्य बनाने वाले ज्ञानावरणीय आदि चार कर्म हैं। आत्मा स्वभाव से छद्मस्थ नहीं है, पर अनादि काल से आत्मा छद्मस्थावस्था में है। छद्मस्थपन जब तक बहुत जोरदार होता है, तब तक छद्मस्थ आत्मा को यह भान भी नहीं होता कि वह छद्मस्थावस्था में है या

नहीं

मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्र मोहनीय, मोहनीय कर्म के दो प्रकार हैं। इन दो प्रकारों में जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उपशमादिभाव को—मन्दता को प्राप्त होता है तो छद्मस्थ जीव को यह ध्यान आता है कि 'मैं कौन हूँ और कैसा छद्मस्थ हूँ।' जीव का छद्मस्थपन ही जीव के भव भ्रमण का कारण हो जो जीव छद्मस्थपन से छूट जाता है वह उसी भव (जन्म) में, भव (संसार) से भी छूट जाता है। छद्मस्थपन आत्मा के अनन्त ज्ञानादि गुणों का आवरण कर्ता है। उसके कारण जीव को संसार में भ्रमण करना पडता है इसलिए मैं कहता हूँ। कि सकल विघ्नों का मूल ही छद्मस्थपन है। "मोहनीय कर्म आनन्द करावे, ऐसा तो वह कहता है जो कि मोहनीय कर्म से मरा हुआ हो।"

घात, विघात, विघ्न ये सब पर्याय हैं। अर्थात् एक ही अर्थवाले हैं। इस कारण जिस में सर्व विघ्नों के विदारण की सामर्थ्य होती है उसमें घाती कर्मों को क्षीण करने की सामर्थ्य होती ही है। जिनेश्वर भगवन्तों की स्तुति में यह सामर्थ्य है। आत्मा के अनन्त ज्ञान गुणों को प्रगट न होने देनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म, सामान्य ज्ञानको अवरूद्ध करनेवाले दर्शनावरणीय कर्म, आत्माके सच्चे आनन्द को रोकनेवाले मोहनीय कर्म और आत्मा [illegible] दि को रोकनेवाले अन्तराय कर्म इन चारों कर्मों [illegible] स्तुति से हो सकता है।

"विघ्न विनाशक श्री जिन हैं"

ये चार घाती कर्म ही है जो महा विघ्न हैं। ज्ञान गुण को प्रकाशित होने में विघ्न डालने वाले सभी विघ्नों का समावेश ज्ञानावरणीय कर्म में हो जाता है। दर्शन से तात्पर्य है — सामान्य बोध का। 'कुछ है' इस प्रकार के सामान्य बोध होने में अर्थात् सामान्य ज्ञान होने में बाधा उपस्थित करने वाले सभी विघ्नों का समावेश दर्शनावरणीय कर्म में हो जाता है। आत्माको स्वयं अपनी पहचान होने में तथा आत्मा को अपना स्वरूप प्रकटित करने के लिए सच्चे उपाय को आचरित करने में बाधा उपस्थित करने वाले सभी विघ्नों का समावेश मोहनीय कर्म में हो जाता है। औ दानादिक में बाधा उपस्थित करने वाले सभी विघ्नों का समावे अन्तराय कर्म में हो जाता है इन चारों में जिन विघ्नों का समावे न हो ऐसा कौन सा विघ्न है? केवल साधारण विघ्न कि जो आत के स्वभाव को रोक सकने में असमर्थ है। इन हल्के-फुल्के विघ के अतिरिक्त सभी विघ्नों का समावेश इन चार महाविघ्न रूप घा कर्मों में ही हो जाता है। भगवान श्री जिनेश्वर देवों ने अप चारों घाती कर्मों को क्षीण कर डाला है। इसीलिए इन तारकों की स्तुति इन चार महा विघ्नों के क्षय रूप फल को देनेवाली है

जिस श्री जिनस्तुति में इतना अद्भुत सामर्थ्य है वह श्री जिनस्तुति अन्य सामान्य विघ्नों का भी विदारण करने में निश्चय ही समर्थ है इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं इसीलिए।टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् अभयदेव सूरीश्वरजी महाराज श्री भगवती सूत्र की टीका की रचना करते हुए विघ्नों के विदारण आदि उनके विग्र हेतुओं से मंगलाचरण कर रहे हैं और मंगल के आचरण के लिए वे श्री जिनस्तुति कर रहे हैं। श्री जिनस्तुति में टीकाकार आचार्य भगवान ने श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति १५ विशेषणों से की है। इन १५ विशेषणों में से अबतक सर्वज्ञ, ईश्वर, अनंत, असंग, अग्र्य, सार्वीय और अंत में अस्मर विशेषणों पर विचार किया है। "यह वक्ता का कर्तव्य है कि श्रोता को श्रद्धालु बनाये"

सूत्र पढ़ने के लिए बैठने के बाद, काफी दिन इस प्रकार भगवान के विशेषणों के वर्णन में जाये यह एक प्रकार से वक्ता की त्रुटि है, ऐसा कहना उचित नहीं है। जो सूत्र पढ़ना हो, उस सूत्र में वर्णित पदार्थों और उसके स्वरूप पर श्रोताओं को श्रद्धालु बनाना यह भी वक्ता के कर्तव्यों में से एक मुख्य कर्तव्य है। जिस प्रकार सूत्र में वर्णित पदार्थों को विस्तृत करके श्रोताओं को बुद्धिगम्य बनाना वक्ता का अनिवार्य कर्तव्य है, ठीक, उसी प्रकार उस सूत्र में कथित प्रत्येक बातों के प्रति श्रोताओं को श्रद्धालु बनाना भी वक्ता का मुख्य कर्तव्य है। समझ का सच्चा परिणाम श्रद्धा के

बगैर नहीं आ सकता। श्रद्धा का जन्म हो तभी समझ आचरण में परिणत हो सकती है। श्रद्धा के अभाव में समझ आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकती। इसलिए पहले आपको श्रद्धालु बनाकर सूत्र श्रवण कराना प्रारंभ करना चाहिए। श्रद्धा के योग से ही सूत्र का श्रवण सम्मानपूर्वक और प्रेमपूर्वक हो सकता है। श्रद्धा के अभाव में यह संभव नहीं है। सूत्र के तात्पर्यार्थ को प्राप्त करने में श्रद्धा बहुत सहायक होती है। यदि मति की मन्दता के कारण सूत्र का अर्थ तुरन्त बुद्धिगम्य न हो तब भी श्रद्धा के योग से सूत्रार्थ को समझने का प्रयत्न करनेका दिल तो अवश्य होता है, पर 'यह बात तो ठीक नहीं लगती है"। ऐसी विचारणा कभी पैदा ही नहीं होती है। अतः इस उद्देश्य से आपको श्रद्धालु बनाने का प्रयत्न चल रहा है। श्रोता को श्रद्धालु बनाने के लिए क्या करना चाहिए? सूत्र में जिन महात्मा के वचन का निरूपण हो उनके प्रति श्रोता में ऐसा भाव प्रकट करना चाहिए कि उन्होंने जो कुछ कहा है, सच कहा है और हितकर कहा है। इस श्री भगवती सूत्र में किस के वचनों का निरूपण किया गया है? पाँचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामीजी तो केवल इस सूत्र के प्रणेता हैं। परन्तु उन गणधर श्री सुधर्मा स्वामीने इस सूत्र में निरूपण तो भगवान श्री महावीर परमात्मा के वचनों का ही किया है। भगवान श्री महावीर परमात्मा कैसे थे? वह भी अन्य भगवान श्री जिनेश्वर देव के समान ही थे। किसी भी भगवान श्री जिनेश्वर देवों की प्ररूपणा में परस्पर किंचित मात्र अर्थ

भेद नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिस ज्ञानादि के योग से प्रकाश होती है उस ज्ञानादि में इन तारकों के बीच किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं होता है। इसलिए श्री जिनेश्वर देवों के प्रति जितनी श्रद्धा पैदा होगी, उतनी भगवान श्री महावीर परमात्मा के प्रति भी अवश्य श्रद्धा उत्पन्न होगी। टीकाकार आचार्य भगवान ने प्रथम श्लोक के द्वारा समस्त भगवान श्री जिनेश्वर देवों की स्तुति करने के बाद दूसरे श्लोक में भगवान श्री महावीर परमात्मा आदि तारकों के नामोल्लेख पूर्वक उनकी भी स्तवना की है।

भगवान श्री जिनेश्वर देव कितने सर्वोच्च कोटि के होते हैं और उन तारकों द्वारा उपदेशित मार्ग कितनी उच्च कोटिका है, यह बात जितने अंश में आपकी समझ में आयेगी उतने ही अंशमें आप भगवान के कथित मार्ग के मर्म से सुज्ञ बनेंगे। और उतने ही अंश में आपको इस सूत्र के श्रवण से लाभ होगा! इसी कारण हमने भगवान के विशेषणों के वर्णन में इतने दिन लगाये हैं। भगवान श्री जिनेश्वर देवों के संबन्ध में जो बातें आपसे कहनी थीं उनमें से अधिकांश कही जा चुकी हैं। इसीलिए अब आगे आनेवाले विशेषणों के संबन्ध में अधिक विस्तार किये बिना आपको यह बता देना चाहता हूँ कि आगे के विशेषणों द्वारा टीकाकार आचार्य श्री भगवान क्या सूचित करना चाहते हैं।

"कौनसा अर्थ समर्थ है – यह देखना चाहिए"

टीकाकार आचार्य भगवान, भगवान श्री जिनेश्वर देवों की 'अस्मर' के रूप में स्तवना करने के पश्चात् 'अनीश' के रूप में स्तवना करते हैं। 'अनीश' ग्यारहवाँ विशेषण है। 'अनीश' शब्दका अर्थ है 'न ईशः अनीशः'। ऐसा अर्थ हो सकता है और 'नास्ति ईशः यस्य सः अनीशः' यह अर्थ भी इस शब्द का हो सकता है। जो स्वयं ईश न हो उसे भी अनीश कह सकते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि टीकाकार आचार्य भगवान ने यहाँ 'अनीश' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है।? ऐसा शब्द प्रयोग नासमझ को तो भ्रमोत्पादक लगता है। मगर समझदार आदमी को तो यह शब्द प्रयोग पढ़कर आनन्द होता है। समास से प्राप्त अर्थों में से कौनसा अर्थ समर्थ है और कौनसा अर्थ संबद्ध है यह विशेष रूप से देख लेना चाहिए।

"कामधेनु का अर्थ"

उदाहरणार्थ कामधेनु शब्द दो शब्दों का समास है। इसीलिए इस शब्द के भी अनेकों अर्थ हो सकते हैं। कामधेनु अर्थात् कामदेव की गाय और 'काम' अर्थात् इच्छा पूर्ण करनेवाली गाय 'कामधेनु'। यह अर्थ भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में देखना चाहिए कि कौनसा अर्थ करने से 'कामधेनु' का आशय प्रस्तुत

प्रकरण में स्पष्ट हो सकता है। 'कामदेव की गाय' अर्थ तो नहीं बैठता अतः मनोकामना पूर्ण करनेवाली गाय अवश्य हो सकता है।

"संघपति श्री वस्तुपाल"

कामधेनु शब्द का ऐसा ही अर्थ बैठता है, परन्तु कितने ही शब्द ऐसे भी होते हैं जिनके अनेकों अर्थ भी संबद्ध होते हैं। अर्थ का जानकार हो तो शब्द के प्रयोग से मालिक के रुष्ट होनेपर, वह उसी शब्द का दूसरा अर्थ कर मालिक को प्रसन्न कर सकता है श्री वस्तुपाल के संबन्ध में एक ऐसा प्रसंग है। श्री वस्तुपाल एकबार संघ लेकर निकले। संघ लेकर निकले श्री वस्तुपाल की एक स्तुतिकार ने संघपति के रूप में स्तुति की। स्तुतिकार ने श्री वस्तुपाल को 'संघपति' कहा। यह उक्ति वस्तुपाल को पसंद न आई। उसने स्वयंने संघ निकाला था। फिर कोई उसे संघपति कहे तो भला बुरा क्यों लगे? आपको कोई संघपति कहे तो आपको यह बुरा लगेगा। या उसकी उक्ति आपको मधुर लगेगी? जो गुण आप में नहीं है उसी गुण के संबन्ध में कोई कहे कि यह गुण आपमें है तो ऐसा बोलनेवाला आपको मूर्ख नहीं मालूम पड़ता। वस्तुपाल ने संघ तो निकाला था! संघ में आये सभी का वस्तुपाल कुशलक्षेम पूछते रहते थे। किसी को कोई कष्ट न हो सभी सुखपूर्वक रहे इस दृष्टि से सभी व्यवस्था श्री वस्तुपाल स्वयं करते थे। आयोजन के व्यय का

अंतिम भव से पूर्व के भवों में आलम्बन मिलने के बावजूद भी प्रधानता इन परम पुरुषों की योग्यता की ही गिनी जाती है। इन सब के फल स्वरूप ये तारक अपने अंतिम भव में 'अनीश' के रूप में जीकर अपने स्वयं के बल से केवल ज्ञान प्रकटित कर सब जीवों के ईश बनते हैं।

"अनीशपन का आदर्श"

यहाँ कोई यह प्रश्न अवश्य कर सकता है–'भगवान श्री जिनेश्वर देव अनीश होते है यह बात ठीक है। पर क्या 'अनीश' के रूप में इन तारकों की स्तुति करना भी ठीक है? अनीशपन क्या इतनी महिमामय वस्तु है? अथवा क्या जगत के जीवों के समक्ष आपको अनीशपन का आदर्श प्रस्तुत करना है कि आप भगवान की अनीश के रूप में स्तुति करते हैं?

यदि कोई ऐसा पूछे तो अवश्य कहा जा सकता है कि अनीशपन निश्चय ही ऐसी सर्वोत्तम वस्तु है। जगत के जीवों के सामने अनीशपन का ही आदर्श खड़ा करना चाहिए। जगत में ऐसा कोई जीव नहीं है कि जिसे पराधीनता पसंद हो और स्वाधीनता नापसंद हो। सभी को स्वामी बनने की इच्छा रहती है। अपने ऊपर किसी अन्य का स्वामी बने रहना किसको भी पसंद नहीं है। ऐसा होने पर भी संसार में ऐसे कितने जीव हैं जिन के ऊपर स्वामी न हो? कोई माने या न माने मगर सब पर कोई न कोई

भगवान की अनीह के रूप में स्तवना

अब बारहवाँ विशेषण है 'अनीह'। ग्यारहवें और बारहवें विशेषण में अन्तर केवल एक ही अक्षर का है। 'श' और 'ह' का। किन्तु भावार्थ में बहुत बड़ा अन्तर है। टीकाकार आचार्य भगवान ने कहा है कि---मैं ऐसे भगवान श्री जिनेश्वर देव की स्तवना करता हूँ, जो अनीह हैं। अनीह का अर्थ क्या? अनीश शब्द का जैसे बहुव्रीहि समास द्वारा अर्थ करना पड़ता है वैसे ही इसका अर्थ भी उसी समास द्वारा करना पड़ता है। 'नास्ति ईहा यस्य सः अनीहः'। ईहा अर्थात् इच्छा। भगवान श्री जिनेश्वर देव इच्छा मात्र से रहित होते हैं। यहाँ प्रथम विचारणीय बात यह है कि इच्छा किसको होती है? यदि किसी प्रकार की खामी (त्रुटि) न हो तो फिर किसी प्रकार की इच्छा ही न हो। जो चीज़ नहीं होती उसी चीज़ की इच्छा होती है। जो वस्तु होती है उसकी इच्छा की संभावना ही नहीं है। जो नहीं है उसकी इच्छा भी कदाचित् अज्ञान के योग से संभव है, पर यदि अज्ञान न हो और चीज का अभाव भी न हो तो इच्छा के पैदा होने के लिए ही नहीं रह जाता। इसीलिए उपकारी कहते हैं कि

के अन्यदेव अनीह नहीं है। वे ईहा (इच्छा) वाले हैं। इसलिए उनमें सच्चा देवत्व नहीं हो सकता। सृष्टि का संचालन, सृष्टि का प्रलय का और युवतियों के साथ लीला आदि को देव में आरोपण करनेवालों के मान्य देव ईहा वाले ही हैं, यह बात हम सिद्ध कर चुके हैं। इसलिए यह तथाकथित देव त्रुटि (अभाव) वाले, अज्ञानवाले, और मोहासक्त हैं। ये बातें अपने आप सिद्ध हो जाती हैं। भगवान श्री जिनेश्वर देव की 'अनीह' विशेषण से स्तुति करने का लक्ष्य जगत के समस्त जीवों के समक्ष 'अनीहपन' का आदर्श प्रस्तुत करना है – ऐसा भी कहा जा सकता है। सारी दुनिया ईच्छा से भरी है और ईच्छा का त्याग करने वाले ही दुनिया से तैर रहे हैं। पौद्गलिक ईच्छा दुर्ध्यान है यदि इस में किसी के बुरे की भावना न हो तो वह आर्त्तध्यान है अन्यथा रौद्रध्यानी है। पौद्गलिक ईच्छा में ही रमण करते हुए यदि मृत्यु हो जाय तो मरने के पश्चात् वह तिर्यचगति में उत्पन्न होता है और यदि हिंसादि भाव में रमण करता मृत्यु को प्राप्त हो तो नरक गति में उत्पन्न होगा। पौदगलिक ईच्छा मात्र में इतनी बड़ी हानि करने की क्षमता है। त्याग की ईच्छा में रमण करते हुए मरनेवाला सद्गति को प्राप्त करता है और ईच्छा ही न करे। यदि इच्छा होती ही है तो राग के मारने की तथा त्याग के साधने की इच्छा करे। तो इससे 'अनीहपन' प्राप्त हो सकता है।

भगवान की इद्ध आदि रूप में स्तवना

दसवाँ विशेषण 'इद्ध'

टीकाकार आचार्य भगवान ने श्री जिनेश्वर देव की इद्ध रूप में स्तवना की है। इद्ध अर्थात् दीप्तिमान 'ञइन्धी दीप्तौ' धातु से इद्ध शब्द बना है। शब्द धातुओं से ही बनते हैं। अपना शरीर धातु का बना है। धातु में विकृति होने से शरीर में विकृति होती है। धातु की क्षीणता से शरीर की क्षीणता होती है। सात धातुएँ स्त्री देह को स्त्री देह में और पुरुष देह को पुरुष देह में प्रकट करती हैं। यहाँ तक कि शब्द देह भी धातुजन्य है। धातु में जो परिबल हो वह परिबल शब्द में आता है। इद्ध शब्द दीप्तिवाचक धातु से बना है इसलिए इद्ध का अर्थ दीप्तिमान होता है। 'ञइन्धी दीप्तौ' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाने से इद्ध शब्द बनता है। भगवान 'इद्ध' हैं। इसका मतलब है भगवान दीप्तिमान हैं। भगवान श्री जिनेश्वर देवों को जन्म से ही चार अतिशय होते हैं। भगवान के इन चार अतिशयों में पहला अतिशय देह सम्बन्धी होता है। कहागया है—

'तेषां देहोऽद्भुतरूपगन्धो
निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च'

इन तारकों की देह अद्भुत रूप और गन्ध वाली होती है। निरोगी, निर्मल और अद्भुत रूप वाली काया कितनी दीप्तिमान होती है? यह प्रताप श्री तीर्थंकर नाम कर्म का जब से विपाकोदय होता है तब से उन तारकों की दीप्ति इतनी बढ़ जाती है कि अनेकों सूर्यों का तेज मिलकर भी इनके तेज की बराबरी नहीं कर सकता। ऐसा भव्य तेज इन तारकों के मुख मडल पर विलसता रहता है। फिर उनके मुख की ओर हम किस प्रकार देख सकते हैं एक सूर्य के सामने मनुष्य एक निगाह से नहीं देख सकता। सूर्य के सामने तो क्या, उसके विमान के सामने भी नहीं देख सकता। हमें जो दिखाई देता है वह सूर्य का रत्नमय विमान है। इस विमान को भी हम निर्निमेष दृष्टि से नहीं देख सकते तो फिर जिस मुख पर अनेकों सूर्यों का तेज झलकता हो, उस श्री जिनमुख को भला किस प्रकार देख सकते हैं? इसी कारण देवतागण भगवान के मुख के पीछे भामण्डल बनाते हैं। इसमें भी प्रभु का अतिशय है। इसमें भामण्डल में प्रकाश प्रतिबिंबित होने से भगवान का श्रीमुख देखा जा सकता है। भगवान के रूप का वर्णन करते हुए उपकारियोंने कहा है सभी देव अपनी अपनी रूप निर्माण शक्ति का उपयोग करके एक अंगूठे जितने भाग में एकत्र कर दें तो भी वह देव निर्मित अंगूठा भगवान के समक्ष कोयलेसा लगेगा। सभी भगवान श्री जिनेश्वर देव के अंगूठे ऐसे अद्वितीय रूप होते हैं।

"रूप का प्रभाव"

यहाँ कोई कहे कि 'भगवान श्री जिनेश्वर इष्ट होते हैं, पर इन परम पुरुष की इष्ट के रूप में स्तवना करने की क्या आवश्यकता है ?

जिसे ऐसा विचार आये उसे यह सोचना चाहिए कि—महा पुरुषों की हर बात प्रशंसा योग्य ही होती है। भगवान की देह तारक है, इसलिए इनके तारक देह की दीप्तिमत्ता के बखान करने से भगवान के प्रति भक्तिभाव में अभिवृद्धि होती है। इन पुण्य पुरुष का रूप अनेकों को धर्म मार्ग पर लाने वाला होता है। उनका रूप आकर्षक होता है। भगवान के रूप को निहार कर करोड़ों नतमस्तक हो जाते हैं। आप अपने व्यवहार में ही देखें। यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति आकर खड़ा हो और भाषण करे तो उसका कुछ और ही प्रभाव पड़ता है। अगर अन्य कोई रूप हीन आकर, कुछ बोलेगा तो उसका प्रवचन प्रभावहीन ही होगा। तेजयुक्त चेहरेवाला आदेय वाक्य बनता है। चेहरे की तेजस्विता उसके वचनों को आदेय बनानेवाली होती है। प्रभु के तेज से संसार प्रभावित होता है उनके त्याग की विशेषताको मानते हैं, उनको देखने ही कांपते हैं। रूपके तेज में सभी चकाचौंध हो जाते हैं। यह सब रूप का ही प्रभाव है, देह की दीप्ति का ही है। 'रूप व्यर्थ है। और तेज भी व्यर्थ है।' ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि बाह्य अंधकार को, रूप तथा तेज ही हटाते हैं।

मानव अंधकार में घबराहट न हो, इसलिए रात में दीपक की आवश्यकता पड़ती है। दीपक अंधकार से उत्पन्न कठिनाईयों को दूर करता है। और प्रत्येक वस्तु को दृश्यमान करता है। दिपक का तेज संसार की प्रत्येक वस्तु को बताता है। और भगवान का तेज प्रवचन श्रवणार्थ--दर्शनार्थ आनेवालों के लिए आकर्षक वस्तु है।

"अंगरचना वीतरागता की शोषक नहीं।"

भगवान का भव्यरूप भव्यों को आनंद देने वाला होता है। लोकों के नाज का चेहरा ऐसा होता है कि उस समय भगवंत, भव्यलोग उसे देखकर आनंदित होते हैं। उसी की झांकी के लिए भगवानकी आंगी बनती है। भगवान वितराग होते हैं। 'फिर उनके चित्र की आंगी किस लिए!' ऐसा कहने वाले मूर्ख होते हैं। भगवान श्री वीतराग स्वयं देव रचित मणि, स्वर्ण, और चांदी के कंगूरेवाले तीन गढ़ के मध्य रचित स्वर्णमय सिंहासन के ऊपर बैठकर देशना देते हैं। वहाँ वीतरागपन में हानि नहीं होती? यदि हम यह मानते हैं कि वहाँ भगवान के वीतरागपन में हानि नहीं होती तो फि प्रभु की प्रतिमाजी की अंगरचना से प्रभु के वीतरागपने में बाधा आती है, ऐसा विचार कैसे संभव है? भगवान की अंगरचना भगवान के लिए नहीं, हमारे लिए की जाती है। यदि उनकी सेवा करने के लिए उत्सुक बनोगे तो आप भी अलिप्त की सेवा द्वारा अलिप्त बनोगे। भगवान की भक्ति करें...

आपने अनाथी मुनि का दृष्टांत तो सुना होगा? उनका रूप अप्रतिम था। अप्रतिम रूपवाले उन महात्माने युवावस्था में ही दीक्षाग्रहण कर ली थी। एक बार वह राजगृही नगरी के बाहर एक उपवन में कायोत्सर्ग में थे। ठीक उसी समय महाराज श्रेणिक घूमते हुए उसी स्थान पर आ पहुँचे। तब महाराज श्रेणिक ने सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया था। भगवान श्री महावीर परमात्मा का योग उन्हें पहले नहीं हुआ था। उस समय तक वह भोगसुख को ही भोग्य मानते थे। श्री श्रेणिक ने कायोत्सर्ग में स्थित अनाथी मुनि को देखा और देखते ही स्तब्ध रह गये। आश्चर्य में गर्क होगये, सोचने लगे कि ऐसा रूप! यह लावण्य! ऐसा यौवन!!! और भोग का संग नहीं? भोग के सर्वोत्तम साधनों का योग होते हुए भी ऐसा त्याग। चलकर जरा पूछूं तो सही कि इसअवस्था में उन्होंने भोग का त्याग और योग ग्रहण क्यों किया?

यह सोचकर राजा श्रेणिक मुनिवर के समीप गये। मुनिवर के समीप पहुंचकर प्रथम उन्होंने वन्दना की। त्याग में इतना सामर्थ्य है कि भोगों में ही सुख मानने वाले को भी त्यागी के सामने झुकना पड़ता है। मुनिवर ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया। श्रेणिक महाराजा ने पूछा — इस युवावस्था में आपने यह दुष्कर व्रत क्यों स्वीकार किया?

मुनिवर ने कहा — मैं अनाथ हूँ। इस संसार में मेरा [illegible]

कोई नहीं है जो मुझ पर अनुकम्पा करे। इसलिए मैं ने इस युवावस्था में इतना दुष्कर व्रत ग्रहण किया है।

श्री श्रेणिक कहते हैं—आप अनाथ हैं? आप के रूप आदि को देखते हुए, यह बात मुझे मान्य नहीं हो सकती! पर यदि आप अनाथ हैं तो मैं आपका नाथ बनने को तैयार हूँ। आप प्रसन्नता पूर्वक मेरे साथ चलिए, यथेच्छ भोगों का उपभोग करें और साम्राज्य का पालन करें।

श्री श्रेणिक का यह कथन विचारणीय है। कोई व्यक्ति आधार के बिना दुःखी हो तो उसे आधार देना ही मनुष्यता है। मिथ्यादृष्टि होते हुए भी श्री श्रेणिक ऐसा समझते थे। मुनिवर ने तो कोई लाचारी नहीं दिखाई, पर लाचार होकर कोई कष्ट उठाये यह बात श्रेणिक को भली नहीं लगती थी। लेकिन श्रेणिक केवल बातें बनानेवाले नहीं थे, वह लाचार को सहायता देने के लिए भी उद्यत थे। आपको यदि कोई जैन भाई दुःखी लगे तो क्या आपको उसका इस प्रकार सहायक बनने का दिल होगा? यह तो आप स्वयं ही सोच लें।

मुनिवर ने कहा — राजन्। जब तुम स्वयं अनाथ हो तो भला मेरे नाथ किस प्रकार बनोगे! जैन मुनि इतने त्यागी होते हैं कि सामने से कोई देने आये तो भी ग्रहण न करें। जैन मुनि का त्याग लाचारी या दीनता का त्याग नहीं है।

श्री श्रेणिक तो मुनि का कथन सुनकर अवाक् रह गये। उनके जीवन में ऐसी बात कहनेवाले ये प्रथम व्यक्ति थे। दिनभर अनेकों लोग जिसे नाथ कहकर संबोधन करते हों, उसे ही कोई अनाथ कह दें तो आश्चर्य होगा ही न? ऐसे को अनाथ कहने का वीर्य तथा धैर्य, जैन मुनिके अतिरिक्त और किस में हो सकता है?

श्री श्रेणिक ने कहा – आपका कथन असंबद्ध है। अनेक स्त्रियाँ, रथ, घोडे व हाथियों का पालक हूँ। इसलिए उन सब का नाथ हूँ। फिर आप मुझे अनाथ क्यों कह रहे हैं?

मुनिवर ने कहा–राजन्! आप अनाथ और सनाथ का मर्म नहीं जानते, इसलिए आपको ऐसा लगता है। यह बात तुम्हें अपने ही दृष्टान्त से समझाता हूँ। ऐसा कहकर मुनिवर ने यह वर्णन किया, कि वे मुनि कैसे बने?

मुनिवर ने कहा–मैं कौशाम्बी के राजा महिपाल का पुत्र हूँ। एक बार मेरी आंख में बड़ी जोरदार पीड़ा हुई। और उसके कारण मेरे शरीर में दाह ज्वर होगया। मेरी पीड़ा असह्य थी मेरी पीड़ा दूर करने में मेरे पिताजी ने कोई कसर न रखी। अनेक मंत्र तंत्र भी आजमाये। मेरे पिता यहाँ तक तैयार थे कि कोई उनका सर्वस्व लेकर भी मेरी पीड़ा दूर कर दे। पर मेरी पीड़ा में कोई उपचार कामयाब न हुआ। मेरे भाई–बहन, माता–पिता तथा पत्नीयाँ मेरी पीड़ा देखकर रोते थे। मगर कोई मेरी पीड़ा नहीं ले सकता था। उस समय मैंने अपने अनाथपन का भान हुआ। मैं

दुःख ने मुझे ज्ञान दिया। मुझे विचार आया कि इस अनादि संसार में यह तो क्या इससे भी अधिक असह्य व्याधियां भी आई और बर्दास्त करली पर ऐसा होने पर भीः मैं इस वेदना को समभाव से सहन नहीं कर पा रहा हूँ। तो फिर इस संसार में आगे आनेवाली व्याधियों को कैसे सहन कर पाऊंगा। इसलिए मुझे तो इस वेदना के मूल कारण को ही नष्ट कर देना चाहिए। इस विचार के साथ ही मैंने निश्चय किया कि – अगर क्षण भर में मैं इस व्याधि से मुक्त होगया तो अंत में दीक्षा लेऊंगा। जिससे मैं क्षीण कर्मी बन सकूं और भविष्य में मुझे वेदना सहन करने का अवसर ही न आये। राजन! इस निर्णय के बाद मेरी जरा आंख लगी। और शनै; शनै! मेरी वेदना शान्त हो गई। इससे मुझे विश्वास हो गया कि आत्मा ही व्यक्ति का सच्चा नाथ बन सकती है। नाथ वह कहलाता है जो योग-क्षेम करने वाला हो और आत्मा का योग-क्षेम करने वाली स्वयं आत्मा ही है। अतः प्रातः उठकर मैंने अपने स्वजनों से सारी बात बताई और उन लोगों ने भी अपनी सम्मति प्रकट की। उसके तुरन्त बाद मैंने चारित्र ग्रहण कर लिया।

मुनिवर के मुख से उनके पूर्व जीवन के तथ्य को सुनकर श्री श्रेणिक राजाने उनसे कहा—'आपने अनाथ और सनाथ का जो रहस्य बताया, वह सर्वथा ठीक है। आपका ही मनुष्य जन्म सफल है। संयम का पालन करते हुए आप अपने सच्चे नाथ बने

हैं। इसी प्रकार स्थावर और जंगम प्राणी के भी आप नाथ बने हैं। आप समान महामुनि को मैंने भोग के लिए आमंत्रित किया यह मेरा अपराध था, मुझे क्षमा करें!

ऐसा कहकर पुनः पुनः क्षमा मांगते हुए श्री श्रेणिक वहाँ से विदा हुए। कहने का तात्पर्य यह था कि रूप से इस प्रकार धर्म का प्रभावक बना जा सकता है। रूप संपन्न यदि धर्म संपन्न हो तो वह अनेक भोगियों को त्यागी बना सकता है। और भोग में सुख मानने वालों को त्याग में सुख मानने वाले बना सकता है।

"भगवान का रूप गर्व को तोड़ने वाला है"

भगवान जिनेश्वरदेव का रूप तो अनेकों के गर्व को समाप्त करनेवाला है। वैभव और पराक्रम आदि वस्तुएं, जैसे अज्ञानी आत्माओं में गर्व उत्पन्न करती है वैसे ही रूप भी अज्ञानी आत्माओं में गर्व पैदा करता है। भगवान का रूप ऐसा अनुपम होता है कि इन तारकों का रूप देखते ही अच्छे से अच्छे रूपवान को लगता है कि मैं तो काली स्याही के समान हूँ। उन्मत्त होकर विवाद करने के इरादे से आनेवाला भी दीप्तिमान को सामने पाकर, शान्त हो जाता है। भगवान श्री महावीर परमात्मा के प्रथम गणधर बनने वाले श्री इन्द्रभूति ब्राह्मण कितने उन्मत्त बनकर निकले थे? उनमें क्रोध और गर्व दोनों ही थे, पर ज्यों ही उनकी दृष्टि भगवान पर पड़ी कि उनकी हालत क्या हो गई? भगवान के पास पहुचने के लिए उबलते

इन्द्रभूति भगवान के समवसरण की साटी के नीचे पहुंचकर ही स्थिर हो गये। उनका क्रोध शान्त हो गया और उनके मन में यह विचार उठा कि ये कौन हैं? ब्रह्मा हैं, विष्णु या शंकर हैं? उन्होंने तुरन्त निर्णय किया कि—'ये ब्रह्मा नहीं हैं, विष्णु भी नहीं और शंकर भी नहीं हैं। फिर सोचना शुरू किया—ये चन्द्र हैं, सूर्य हैं या मेरु हैं? फिर निर्णय किया कि इन तीनों में से भी ये किसके भी समान नहीं हैं। इस प्रकार तुलना करते और सोचते-सोचते उन्हें लगा कि ये तो चौबीसवें तीर्थंकर हैं। यह प्रसंग बहुत ही विस्तृत है और हर पर्युषण पर्व में आपको सुनने को मिलता है। इसलिए मैं यहाँ विस्तार से नहीं कहता। यहाँ इस प्रसंग से मात्र इतना स्मरण रखें कि भगवान का रूप इसी प्रकार अन्यों के गर्वों को तोड़ने वाला है यह बात यदि आपके ध्यान में बैठ जाये तो यह स्वयं ही स्पष्ट हो जायगा कि और कोई देव कहलाने वाले भी भगवान के समान रूपसंपन्न नहीं होते है।

सिद्ध रूप में स्तवना

भगवान श्री जिनेश्वर देव की 'बुद्ध' रूप में स्तवना करने के बाद टीकाकार आचार्य भगवान इन तारकों की स्तवना ११ वें विशेषण सिद्ध' के रूप में करते हैं। सामान्य रूप से सिद्ध' शब्द का प्रयोग आठों कर्मों को क्षीण करके मुक्ति को प्राप्त आत्माओं के लिए होता है। श्री नवकार मंत्र में 'नमो सिद्धाणं' कहकर जिन श्री सिद्ध भगवानों को नमस्कार किया जाता है, वहाँ सिद्ध से तात्पर्य अपने आठों कर्मों को क्षीण करके मुक्ति प्राप्त आत्माओं के लिए ही समझना चाहिए। पर यहाँ प्रयुक्त सिद्ध शब्द का इस रूप में अर्थ नहीं करना है। क्योंकि भगवान श्री जिनेश्वरदेव तो चार अघाती कर्मों से मुक्त होते हैं। भगवान श्री जिनेश्वरदेव अर्थात् भाव अरिहंत तो केवलज्ञान प्राप्ति से लेकर जबतक सिद्धिगति प्राप्त नहीं करते तब तक ही कहे जाते हैं। इसलिए यहाँ व्यवहृत सिद्ध विशेषण भगवान श्री जिनेश्वर देव की कृत-कृत्यता का ही सूचक है। ऐसा समझना चाहिए। जो कुछ करने योग्य हो उन सब को जिसने कर लिया हो और जिसे करने योग्य शेष कुछ न हो, वही कृत-कृत्य कहा जाता है।

शिवरूप में स्तवन।

अब टीकाकार आचार्य भगवान बारहवें विशेषण 'शिव' द्वारा श्री जिनेश्वर देव की स्तुति करते हैं। 'शिव' वह कहा जाता है जो उपद्रवरहित हो रागादिक कोई भी वस्तु भगवान श्री जिनेश्वरदेव पर उपद्रव नहीं कर सकती। प्रकार मिथ्यात्वी भी श्री भगवान जिनेश्वरदेव पर उपद्रव नहीं कर सकते। देव तथा देवेन्द्र भी इन तारकों पर उपद्रव करने में समर्थ नहीं है। भगवान के केवलज्ञान प्राप्त करने से पूर्व उपद्रव संभवित है। परंतु केवलज्ञान उपार्जित करने के बाद यदि भगवान पर किसी प्रकार का:उपद्रव हो तो वह आश्चर्य ही कहा जाता है। भगवान श्री महावीर परमात्मा के ऊपर गोशाला ने तेजो लेश्या छोड़ी और इससे भगवान के पवित्र शरीर में अतिसार का रोग पैदा हो गया था। ऐसा तो भगवान के लिए कवचित् ही होता है। इसलिए तो इसे आश्चर्य कहते हैं। सामान्य रीति से केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद भगवान श्री जिनेश्वर देवों पर किसी प्रकार उपद्रव संभवित नहीं है। इसलिए श्री जिनेश्वर देवों को 'शिव' रूप में जानना पूर्णतः उचित है।

सारे जगत के जीव शिव के ही अभिलाषी हैं। शिव बनने

की कामना सभी को होती है। यहाँ 'शिव' विशेषण का प्रयोग करके टीकाकार आचार्य भगवान ने यह सूचित किया है कि सच्चे शिव भगवान श्री जिनेश्वर देव ही हैं। इसलिए यदि आपको शिव बनना हो तो 'शिवरूप' इन भगवानों की उपासना करें। कोई पूछ रहा है कि 'भगवान श्री जिनेश्वरदेव को आशाता का उदय तो होत ही है न? पर इन तारकों को आशाता का जो उदय होता है वह नाम मात्र का ही होता है कारण शाता का उदय इतना अधिक और प्रबल होता है कि आशाता का उदय बिलकुल यत्किंचित कर बन जाता है जैसे डेढ-दो मन शक्कर के पानी (शरबत) में कड़वे नींबू के रस की एक बूंद मात्र ही पड़ी हो तो वह कडुए नींबू की एक बूंद रस अपनी उपस्थिति और स्वाद बताने में असमर्थ–होती है। उसी प्रकार भगवान श्री जिनेश्वर देवों को अशाता का जब उदय होता है तो उसे ज्ञानी ही ज्ञान के बल से जान सकते हैं। और शेष लोगों को तो ऐसा लगता है कि वह तो भगवंतों के शाता वेदनीय कर्म का जैसा उदय है वैसा और किसको भी उदय नहीं है। भगवान श्री जिनेश्वर देव जब तक १३ वें गुण स्थानक में रहते हैं तबतक उन्हें वेदनीय कर्म का बंधन तो चालु ही रहता है। परंतु वह शाता वेदनीय कर्म ही बंधता है वह समय समय में बंधता है। और निर्जरा भी तुरंत ही हो जाती है, ऐसा ही चलता रहता है।

उत्तर एवं दक्षिण, इन चारों दिशाओं में २५ योजन तक किसी भी जीव को रोग नहीं होता। जहाँ ये तारक विराजते रहते हैं वहाँ वैर-भाव प्रकट नहीं होता। चूहे आदि अन्न (फसल) को नष्ट नहीं करते। कोई संक्रामिक रोग नहीं होता। अतिवृष्टि नहीं होती, अनावृष्टि नहीं होती और अकाल नहीं पड़ता इसलिए इन तारकों की स्तुति शिवकर रूप में की जा सकती है। भगवान के लिए की जानेवाली बलि में भी अजीब प्रभाव होता है। समवसरण में स्थित भगवान प्रथम पोरसी में धर्मकथा पूर्ण करते हैं। उस समय चक्रवर्ति आदि विधिपूर्वक साफ किये अखंड उत्तम जाति के चावल (बलि) आकाश में उड़ाते हैं, इस चावल का आधा भाग देव लोग आकाश में ही ले लेते हैं। शेष आधे में से आधा भाग चक्रवर्ति अथवा राजा लेते हैं। और शेष बचा हुआ भाग, सभी लोग लेते हैं। बलि के इस चावल का यह प्रभाव होता है कि उस चावल में से एक दाना चावल भी जिसके मस्तक पर डाला जाये, उसकी व्याधि शान्त हो जाती है और छः महिनेतक उसे नई व्याधि नहीं होती।

भगवान श्री जिनेश्वर देव उस प्रकार अनेक रूपों में जगत के जीवों के बाह्य तथा अभ्यंतर शिव के कारण बनते हैं इसलिए ही शिवकर रूप में इनकी स्तुति होती है।

'इन्द्रिय रहित रूप में स्तवना'

टीकाकार आचार्य भगवान अब चौदहवें विशेषण द्वारा भगवान श्री जिनेश्वर देव की 'करणव्यपेतं' के रूप में स्तुति की है। करण अर्थात् इन्द्रिय और व्यपेत अर्थात् रहित–अतः 'करण व्यपेत' का अर्थ हुआ इन्द्रिय रहित।

श्री अरिहंत देव देहधारी होते हैं और देहधारी कोई भी प्राणी इन्द्रिय रहित नहीं हो सकते। भगवान को तो पांचों इन्द्रियाँ भी संपूर्ण होती हैं। फिर इन तारकों की इन्द्रिय रहित रूप में क्यों स्तुति की जाती है? यही सूचित करने के लिए कि भगवान अतींद्रिय ज्ञानी होते हैं। अपने को तो किसी भी वस्तुका ज्ञान इन्द्रियों अथवा मनके द्वारा ही होता है। आंख से यदि न दिखाई दे तो पास की भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। नाक द्वारा यदि न सूंघा जाय तो किसी भी वस्तुकी गंध का ज्ञान नहीं होता। यदि कोई बहरा हो तो दूसरे की बात नहीं सुन सकेगा। स्पर्शज्ञान न हो तो पताब ही नहीं चलता कि अमुक वस्तु खुरदुरी है या नर्म। जिव्हा के बिना स्वाद का भी ज्ञान नहीं होता।

पर भगवान श्री जिनेश्वर देव किसी भी वस्तु को इन्द्रियों की सहायता से नहीं जानते। परंतु सभी वस्तुओं के सभी पर्यायों को ये तारक अपनी आत्मा के ज्ञान गुण से ही जानने वाले होते हैं। इन्द्रियों की सहायता से प्राप्त ज्ञान विपरीत भी हो सकता है। पर

आत्मा के केवल ज्ञान गुण द्वारा प्राप्त ज्ञान यथा तथ्य ही हो सकता है। भगवान श्री जिनेश्वर देवोंका ज्ञान ऐसा ही उच्च कोटि का होता है। इसीलिए उन तारकों का उपदेश एकांत रूपसे विश्वसनीय होता है। इसी बात को सूचित करने के लिए भगवान श्री जिनेश्वर देव की स्तुति करण-व्ययेत रूप में की जाती है।

"जितरिपु-रूप में स्तवना"

पंद्रह विशेषणों में अंतिम विशेषण जित-रिपु है। जितरि[illegible] अर्थात् रिपुओं पर विजय प्राप्त करने वाला। भगवान ने किन-कि[illegible] रिपुओं को जीता था? भगवान श्री जिनेश्वर देवों की आत्मा ज[illegible] से श्री तीर्थंकर नामकर्म की निकाचना करती है तब से उन तारकों क[illegible] पुण्य बल ऐसा होता है कि कोई भी इन पुण्य पुरुष का रिपु बनने की हिम्मत नहीं करता। कोई इनका शत्रु नहीं बन सकता। बने तो टिक नहीं सकता। ऐसे पुण्यवान को भी शत्रुओं को जीतना पड़ता है, पर ये शत्रु तो आंतरिक होते हैं। अपने आंतरिक शत्रुओं को क्षीण करनेवालों को बाह्य शत्रुओं को क्षीण करना ही नहीं पड़ता। उनके बाह्य शत्रु तो स्वयं क्षीण हो जाते हैं। जिसके आन्तरिक शत्रु नहीं होते, हैं जिनकी आत्मा आन्तरिक शत्रुओं की भयंकर कोटि के जाल में फँसी होती है। आन्तरिक शत्रु हैं कौन कौन से? कोई कहेगा — काम क्रोध आदि। पर काम क्रोध आदि को

ग्रंथकार का परिचय

जन्म स्थान :- बाल गागर (गुजरात)

समय :- स १९४०.

प्रव्रज्या अंगीकार - स. १९५९.

वाद विजय के स्थल और संवत्

प्रथम वाद विजय:- १९६५ लुधियाना शहर

द्वितीयवाद विजय:- १९६६ कसूर ग्राम

तृतीयवाद विजय:- १९६७ मुलतान

चतुर्थवाद विजय:- १९७३ नरसंडा

पंचमवाद विजय:- १९७४ वडोदरा

जैन रत्न व्याख्यान वाचस्पति पद प्रदान:- १९७१ इडर

आचार्य पद प्रदान:- १९८१ छाणी

स्वर्ग गमन:- २०१७ श्रावण शुक्लापंचमी (बम्बई)